April 2024

Bulletin of Sri Aurobindo International Centre of Education

श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र पत्रिका

(हिन्दी-विभाग)

अप्रैल २०२४

श्रीअरविन्द आश्रम

पॉण्डिचेरी, भारत

बुलेटिन अप्रैल २०२४

विषय-सूची

समता का मार्ग	श्रीअरविन्द	३
जयन्तीलाल के साथ पत्र-व्यवहार	श्रीमाँ	९
उषा से पहले का अन्धकार	श्रीअरविन्द	२१
१९७१ के दो वार्तालाप	'श्रीमातृवाणी' से	२२
अतिमानस तथा रूपान्तर	श्रीअरविन्द	२६
स्त्री और पुरुष	'श्रीमातृवाणी' से	२९
श्रीअरविन्द के उत्तर (९२)		३०

'योग-समन्वय' में समता

श्रीअरविन्द ने कहा है कि समता उनके सर्वांगीण योग की नींवों में से एक नींव है। योग-समन्वय के चार अध्यायों में उन्होंने उसकी महत्ता और अर्थ का खुलासा किया है। इस शृंखला में उनके इन्हीं अध्यायों को दिया जायेगा। बुलेटिन के इस अंक में हम "समता का मार्ग", योग-समन्वय के भाग-४ के अध्याय १२ का अन्तिम भाग दे रहे हैं।

समता का मार्ग

अतएव, इस समस्त जगत् और जीवन पर निषेधात्मक एवं निष्क्रिय समता के स्थान पर भावात्मक एवं सक्रिय समता के योग के दृष्टिकोण द्वारा भी विचार किया जा सकता है। इसके लिए सबसे पहले आवश्यकता है नये ज्ञान की जो कि एकता का ज्ञान है—इसका अभिप्राय है सब वस्तुओं को अपनी ही सत्ता के रूप में देखना और भगवान् में तथा सब वस्तुओं में भगवान् को देखना। तब, सब दृश्य पदार्थों, सब घटनाओं, सब दैवयोगों, सब व्यक्तियों और शक्तियों को आत्मा के प्रच्छन्न रूप, एक ही शक्ति के क्रिया-व्यापार, एक ही कार्यरत शक्ति के परिणाम तथा एक ही दिव्य ज्ञान के द्वारा शासित समझते हुए उन्हें सम भाव से स्वीकार करने के लिए एक संकल्प-शक्ति उत्पन्न होती है; और महत्तर ज्ञान से युक्त इस संकल्प-शक्ति के आधार पर प्रत्येक वस्तु का अनुद्विग्न आत्मा और मन के द्वारा सामना करने की शक्ति विकसित होती है। मुझे अपनी आत्मा का विश्व की आत्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करना होगा, सब प्राणियों के साथ एकत्व का साक्षात्कार और अनुभव प्राप्त करना होगा, सब शक्तियों, सामर्थ्यों और परिणामों को अपनी आत्मा की, अतएव घनिष्ठ रूप से मेरी अपनी ही इस शक्ति की क्रिया के रूप में देखना होगा; यह स्पष्ट ही है कि उनको मुझे अपनी अहं सत्ता की क्रिया के रूप में नहीं देखना होगा, अहं सत्ता को तो शान्त करना होगा, दूर करना एवं त्याग देना होगा—अन्यथा यह सिद्धि प्राप्त ही नहीं हो सकती; परन्तु उन्हें एक ऐसे महत्तर निर्वैयक्तिक या विश्वव्यापी आत्मा की, जिसके साथ मैं अब एकमय हूँ, क्रिया के रूप में अनुभव करना होगा। कारण, मेरा व्यक्तित्व अब उस विश्वात्मा के कार्य का एक केन्द्रमात्र है, पर एक ऐसा केन्द्र है जो अन्य सब व्यक्तित्वों के साथ तथा उन सब दूसरी वस्तुओं के साथ भी, जो हमारे लिए केवल निर्वैयक्तिक पदार्थ और शक्तियाँ हैं, घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध और समस्वर है : पर वास्तव में वे भी एक ही निर्वैयक्तिक 'पुरुष', भगवान्, आत्मा और परमात्मा की शक्तियाँ हैं। मेरा व्यक्तित्व उन्हीं का व्यक्तित्व है और अब पहले की तरह विश्वमय सत्ता के साथ असंगत या उससे पृथक् कोई वस्तु नहीं है; वह स्वयं विश्वमय होकर वैश्व आनन्द का ज्ञाता बन गया है तथा जिन वस्तुओं को वह जानता

और भोगता है और जिन पर क्रिया करता है उन सबके साथ एकमय और उनका प्रेमी बन गया है। क्योंकि विश्व के समत्वपूर्ण ज्ञान तथा विश्व को स्वीकार करने के समत्वयुक्त संकल्प के साथ भगवान् की समस्त वैश्व अभिव्यक्ति में सम आनन्द भी प्राप्त होगा।

यहाँ भी हम इस पद्धति के तीन परिणामों या इसकी तीन शक्तियों का वर्णन कर सकते हैं। सबसे पहले हम अपनी आत्मा में तथा आध्यात्मिक ज्ञान के अनुकूल क्रिया करने वाली उच्चतर बुद्धि और संकल्प-शक्ति में विश्व को समतापूर्वक स्वीकार करने की इस शक्ति का विकास करते हैं। परन्तु हम यह भी देखते हैं कि यद्यपि प्रकृति को समता की इस सामान्य वृत्ति को ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया जा सकता है तथापि उस उच्चतर बुद्धि एवं संकल्प-शक्ति और निम्नतर मानसिक सत्ता के बीच संघर्ष चलता रहता है, क्योंकि निम्नतर मानसिक सत्ता जगत् को देखने के तथा उसके आघातों के प्रति प्रतिक्रिया करने के पुराने अहंकारमय ढंग के साथ चिपकी रहती है। तब हम यह अनुभव करते हैं कि यद्यपि प्रकृति के ये दो भाग आरम्भ में अस्तव्यस्त एवं परस्पर-मिश्रित होते हैं, बारी-बारी से प्रकट होते, एक-दूसरे पर क्रिया करते तथा प्रभुत्व के लिए चेष्टा करते रहते हैं तथापि इन्हें एक-दूसरे से पृथक् किया जा सकता है, अर्थात् उच्चतर आध्यात्मिक प्रकृति को निम्नतर मानसिक प्रकृति से मुक्त किया जा सकता है। परन्तु इस अवस्था में जब कि मन अभी भी दुःख, कष्ट, निम्न हर्ष और सुख की प्रतिक्रियाओं के अधीन होता है, पूर्णयोग के साधक के सामने एक बड़ी भारी कठिनाई उपस्थित होती है जो एक अधिक तीव्रतः व्यक्तिप्रधान योग में उतना बड़ा प्रभाव नहीं दिखलाती। कारण, पूर्णयोग में मन केवल अपने कष्टों और कठिनाइयों को ही अनुभव नहीं करता बल्कि वह दूसरों के हर्षों और शोकों में भी भाग लेता है, तीव्र सहानुभूति के साथ उनके प्रति स्पन्दित होता है, उनके आघातों को सूक्ष्म संवेदनशीलता के साथ अनुभव करता है, उन्हें अपना आघात बना लेता है; इतना ही नहीं, बल्कि दूसरों की कठिनाइयाँ भी हमारी कठिनाइयों में आ जुड़ती हैं और पूर्णता का विरोध करने वाली शक्तियाँ पहले से अधिक दृढ़ता के साथ अपना कार्य करती हैं, क्योंकि वे इस प्रयत्न को किसी अकेली आत्मा का उनके साम्राज्य से भाग निकलना ही नहीं समझतीं बल्कि अपने सार्वभौम राज्य पर आक्रमण तथा उसे जीतने का प्रयत्न अनुभव करती हैं। किन्तु अन्त में, हम यह भी देखते हैं कि इन कठिनाइयों को पार करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है; उच्चतर बुद्धि और संकल्प-शक्ति निम्नतर मन पर अपना प्रभुत्व बलपूर्वक आरोपित कर देती हैं, जिससे कि वह प्रत्यक्षतः ही आध्यात्मिक प्रकृति के विशाल प्रतिरूपों में परिवर्तित हो जाता है; यहाँ तक कि वह सब कष्टों, बाधाओं और कठिनाइयों को अनुभव करने तथा उनका सामना और पराभव करने में भी आनन्द लेता है जिससे कि अन्त में वे उसके रूपान्तर के द्वारा दूर ही हो जाती हैं। तब हमारी सम्पूर्ण सत्ता स्वयं परम आत्मा की तथा उसकी अभिव्यक्ति की चरम शक्ति, विराट् शान्ति और हर्षमयता में तथा उसके सर्वदर्शी आनन्द और तपस् में निवास करती है।

समता की यह भावात्मक पद्धति किस प्रकार कार्य करती है यह देखने के लिए ज्ञान,

संकल्प और संवेदन की तीन महान् शक्तियों में रहने वाले इसके तत्त्व को अत्यन्त संक्षेप में देख लेना उचित होगा। समस्त भावावेश, संवेदन और ऐन्द्रिय संवेदन अन्तरात्मा का एक साधन है जिसके द्वारा वह परम आत्मा की प्रकृतिगत अभिव्यक्तियों के सम्पर्क में आती है तथा उन्हें प्रभावशाली मूल्य प्रदान करती है। परन्तु अन्तरात्मा जो कुछ अनुभव करती है वह विश्वव्यापी आनन्द ही है। इसके विपरीत, जैसा कि हम देख चुके हैं, निम्नतर मन में अवस्थित 'पुरुष' उस आनन्द को दु:ख, सुख और जड़ उदासीनता के तीन परिवर्तनशील मूल्य प्रदान करता है, जो अपनी कम-अधिक मात्राओं के तारतम्य के द्वारा एक-दूसरे को अपना पुट दे देते हैं, और यह तारतम्य इस पर निर्भर करता है कि व्यक्तिभावापन्न चेतना ने अपने को पृथक्कारी वैयक्तिक रूप देकर जिस महत्तर सत्ता को अपने से बाहर कर रखा है तथा जिसे मानों अपने अनुभव के प्रति 'विदेशी' बना रखा है उस सारी सत्ता से अपने ऊपर आने वाले सभी आघातों का सामना करने, उन्हें जानने और पचाने तथा उनकी बराबरी करने एवं उन पर प्रभुत्व पाने के लिए उसमें कितनी शक्ति है। परन्तु, हमारे अन्दर स्थित महत्तर आत्मा के कारण, हममें सदा ही एक गुप्त अन्तरात्मा भी रहती है जो इन सब चीज़ों में आनन्द लेती है और अपने सम्पर्क में आने वाली सभी चीज़ों से शक्ति आहरण करती तथा उनके द्वारा विकसित होती है, प्रतिकूल अनुभव से भी उतना ही लाभ उठाती है जितना अनुकूल अनुभव से। यह अन्तरात्मा बाह्य कामनामय पुरुष को भी अनुभूत हो सकती है, और वस्तुत: इसी कारण हमें जीने में आनन्द आता है और हम संघर्ष तथा कष्ट में एवं जीवन के कठोरतर रूपों में भी एक प्रकार का सुख अनुभव कर सकते हैं। परन्तु विराट् आनन्द प्राप्त करने के लिए हमारे सब करणों को सभी वस्तुओं का कोई आंशिक या विकृत नहीं बल्कि मूल आनन्द ग्रहण करना सीखना होगा। सभी वस्तुओं में आनन्द का तत्त्व विद्यमान है, जिसे बुद्धि उनमें अवस्थित आनन्द के आस्वाद या उनके रस के रूप में ग्रहण कर सकती है तथा जिसे सौन्दर्यवृत्ति इसी रूप में अनुभव कर सकती है; पर साधारणत: यह इसके स्थान पर उन्हें मनमाने, विषम और विपरीत मूल्य प्रदान करती है : इन्हें वस्तुओं को आत्मा के प्रकाश में देखने और इन सामयिक मूल्यों को वास्तविक, सम, सारभूत एवं आध्यात्मिक रस में रूपान्तरित करने के लिए प्रेरित करना होगा। हमारे अन्दर जो प्राणतत्त्व है उसका प्रयोजन आनन्द-तत्त्व के इस ग्रहण, **रस-ग्रहण**, को एक ऐसे प्रबल स्वत्वयुक्त **भोग** का रूप देना है जो सम्पूर्ण प्राणसत्ता को अपने द्वारा स्पन्दित कर दे और अपने-आपको स्वीकार करने तथा अपने में आनन्द लेने के लिए प्रेरित करे; पर कामना के वशीभूत होने के कारण यह साधारणत: अपना कार्य करने में सक्षम नहीं होता, बल्कि यह उस रसग्रहण को तीन निम्नतर रूपों में परिणत कर देता है—सुखभोग, दु:खभोग और इन दोनों का त्याग जिसे संवेदनहीनता या उदासीनता कहते हैं। प्राण-तत्त्व या प्राणिक सत्ता को कामना तथा उसकी असमतापूर्ण वृत्तियों से मुक्त करना होगा तथा बुद्धि और सौन्दर्यशक्ति जिस **रस** को अनुभव करती हैं उसे ग्रहण करके शुद्ध भोग का रूप देना होगा। तब फिर तीसरा पग उठाने के लिए करणों में और कोई बाधा नहीं रह जायेगी, उस पग के द्वारा सब कुछ आध्यात्मिक

आनन्द की पूर्ण और शुद्ध उन्मादना में रूपान्तरित हो जाता है।

ज्ञान के सम्बन्ध में भी मन की वस्तुओं के प्रति तीन प्रतिक्रियाएँ होती हैं, अज्ञान, भ्रम और सत्य ज्ञान। भावात्मक समता आरम्भ में उन तीनों को आत्म-अभिव्यक्ति की गतियों के रूप में स्वीकार करेगी; यह आत्म-अभिव्यक्ति अज्ञान में से सत्य ज्ञान की ओर विकसित होती है। विकास की इस प्रक्रिया में यह आंशिक या विकृत ज्ञान में से गुज़रती है जो भ्रम का मूल है। भावात्मक समता मन के अज्ञान के साथ चेतना के तत्त्व की एक तमसाछन्न, आवृत या परिवेष्टित अवस्था के रूप में व्यवहार करेगी जो कि उसका मनोवैज्ञानक रूप है, इस अवस्था में सर्वज्ञ आत्मा का ज्ञान मानों एक अन्धकारमय कोष में छुपा होता है; वह उस पर मन को एकाग्र करेगी और पहले से ज्ञात सम्बद्ध सत्यों की सहायता से बुद्धि के द्वारा या अन्तर्ज्ञान की एकाग्रता के द्वारा अज्ञान के परदे में से ज्ञान को मुक्त करेगी। वह केवल ज्ञात सत्यों में ही आसक्त नहीं रहेगी, न ही सब चीज़ों को ज़बरदस्ती उनके छोटे-से चौखटे के अन्दर कसने का यत्न करेगी, बल्कि ज्ञात और अज्ञात सभी सत्यों पर एक ऐसे समत्वपूर्ण मन के साथ अपने को एकाग्र करेगी जो समस्त सम्भावनाओं के प्रति खुला रहता है। भ्रम के साथ भी वह इसी प्रकार बर्ताव करेगी; वह सत्य और भ्रान्ति के उलझे हुए जाल को स्वीकार करेगी, पर किसी भी सम्मति के प्रति आसक्त नहीं होगी, वरन् सभी सम्मतियों के पीछे स्थित सत्य के तत्त्व की भ्रान्ति के अन्दर छुपे ज्ञान की खोज करेगी—क्योंकि समस्त भ्रान्ति सत्य के कुछ ग़लत समझे गये अंशों का विकृत रूप है और अपनी शक्ति वह उस सत्य से प्राप्त करती है न कि उसके मिथ्या बोध से; निर्णीत सत्यों को वह स्वीकार करेगी पर उनके द्वारा भी अपने को सीमित नहीं करेगी, बल्कि सदैव नये ज्ञान के लिए तैयार रहेगी तथा एक अधिकाधिक समग्र, अधिकाधिक विस्तृत, समन्वयकारी और ऐक्यसाधक ज्ञान की खोज करेगी। यह ज्ञान अपने पूर्ण रूप में तभी प्राप्त हो सकता है यदि मनुष्य आदर्श अतिमानस तक उठ जाये, और तब वह सत्य की समत्वपूर्ण अन्वेषक बुद्धि और उसकी क्रियाओं के प्रति आसक्त नहीं रहेगा, न वह यह ही सोचेगा कि सब कुछ बुद्धि में ही समाप्त हो जाता है, बल्कि उसे इसके परे जाने के लिए तैयार रहना होगा, आरोहण की प्रत्येक अवस्था को तथा अपनी सत्ता की प्रत्येक शक्ति की देनों को स्वीकार करना होगा, पर केवल इसलिए कि उन्हें उच्चतर सत्य में उठा ले जाया जा सके। उसे प्रत्येक वस्तु को स्वीकार करना होगा परन्तु किसी के साथ भी चिपक नहीं जाना होगा, किसी भी वस्तु से घृणापूर्वक पीछे नहीं हटना होगा, चाहे वह कितनी ही अपूर्ण क्यों न हो, अथवा रूढ़ विचारों की कितनी ही विध्वंसक क्यों न हो, पर साथ ही किसी चीज़ को अपने ऊपर इस प्रकार अधिकार भी नहीं करने देना होगा कि उससे सत्य-रूपी आत्मा की स्वतन्त्र क्रिया को क्षति पहुँचे। बुद्धि की यह समता उच्चतर अतिमानसिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान तक पहुँचने के लिए एक आवश्यक शर्त है।

हमारे अन्दर अवस्थित संकल्प-शक्ति हमारी सत्ता की एक ऐसी शक्ति है जो उसके सभी अंगों में अत्यन्त सामान्य रूप से बलवती है—हमारे अन्दर ज्ञान का संकल्प, प्राण का संकल्प

और भावावेश का संकल्प है, हमारी प्रकृति के प्रत्येक भाग में ही एक संकल्प-शक्ति कार्य कर रही है—अपनी इस प्रबलता के कारण हमारी संकल्प-शक्ति अनेक रूप ग्रहण करती है और पदार्थों के बाह्य स्पर्शों के उत्तर में नानाविध प्रतिक्रियाएँ करती है, जैसे असमर्थता, सीमित शक्ति, स्वामित्व, अथवा सत्य संकल्प, असत्य या विकृत संकल्प, उदासीन प्रवृत्ति की—नैतिक मन में पुण्य, पाप और अनैतिक प्रवृत्ति की—तथा इस प्रकार की अन्य प्रतिक्रियाएँ करती है। इन्हें भी भावात्मक समता कुछ ऐसे सामयिक एवं कामचलाऊ मूल्यों के जाल के रूप में स्वीकार करती है जिन्हें लेकर उसे अपना कार्य आरम्भ करना होगा, पर जिन्हें विराट् प्रभुत्व में, सत्य और विराट् ऋत् के संकल्प में तथा कर्मगत दिव्य संकल्प-शक्ति के स्वातन्त्र्य में रूपान्तरित कर देना होगा। समत्वपूर्ण संकल्प-शक्ति को अपने स्खलनों पर पश्चात्ताप, शोक या निराशा अनुभव करने की कोई ज़रूरत नहीं; यदि यान्त्रिक मन में ये प्रतिक्रियाएँ घटित हों तो वह केवल यही देखेगी कि ये कहाँ तक किसी अपूर्णता एवं सुधारने-योग्य वस्तु की ओर निर्देश करती हैं—क्योंकि ये सदा यथार्थ निर्देशक ही नहीं होतीं—और इस प्रकार वह इनसे परे जाकर शान्त और सम मार्गदर्शन प्राप्त करेगी। वह देखेगी कि स्वयं ये स्खलन भी अनुभव के लिए आवश्यक हैं और अन्ततोगत्वा लक्ष्य की ओर जाने वाले पगों का काम करते हैं। हमारे अन्दर तथा संसार में जो कुछ भी घटित होता है उस सबके पीछे और भीतर वह दिव्य अर्थ तथा दिव्य मार्गदर्शन की खोज करेगी; बाहर से ज़बरदस्ती लादी हुई सीमाओं से परे वह विश्व-शक्ति के उस स्वेच्छापूर्ण आत्म-परिसीमन को देखेगी जिसके द्वारा वह शक्ति अपने पगों और क्रमों का नियमन करती है—वे पग और क्रम हमारी अज्ञानावस्था पर तो बाहर से लाये गये प्रतीत होते हैं पर दिव्य ज्ञान में अपने ऊपर स्वेच्छापूर्वक आरोपित होते हैं—और इस प्रकार परे जाकर वह भगवान् की अपरिमेय शक्ति के साथ एकत्व प्राप्त करेगी। सब शक्तियों और कर्मों को वह एकमेव सत्ता से उद्भूत होती हुई शक्तियों के रूप में देखेगी तथा उनकी विकृतियों को प्रगति के लिए अपेक्षित शक्तियों की ऐसी अपूर्णताओं के रूप में देखेगी जिनका इस प्रगति में उत्पन्न होना अनिवार्य ही है। अतएव, वह सभी अपूर्णताओं को उदारतापूर्वक सहन करेगी पर इसके साथ ही एक विराट् पूर्णता की प्राप्ति के लिए स्थिरतापूर्वक दबाव डालेगी। यह समता प्रकृति को दिव्य और विराट् संकल्प-शक्ति के मार्गदर्शन के प्रति खोल देगी तथा इसे उस अतिमानसिक कार्य के लिए तैयार कर देगी जिसमें हमारे अन्दर की आत्मा की शक्ति ज्योतिर्मय रूप में परमोच्च आत्मा की शक्ति से पूर्ण तथा उसके साथ एकमय होती है।

पूर्णयोग हमारी प्रकृति की आवश्यकता तथा अन्तःस्थित आत्मा, **अन्तर्यामी**, के मार्गदर्शन के अनुसार निष्क्रिय तथा सक्रिय दोनों विधियों का प्रयोग करेगा। यह अपने-आपको निष्क्रिय पद्धति की सीमाओं में बाँध नहीं लेगा, क्योंकि वह केवल किसी वैयक्तिक निवृत्तिप्रधान मोक्ष की ओर या सक्रिय और विराट् आध्यात्मिक सत्ता के निषेध की ओर ले जायेगी जो कि इसके लक्ष्य की समग्रता के साथ संगत नहीं होगा। यह तितिक्षा की विधि का प्रयोग करेगा, पर अनासक्त शक्ति और प्रशान्ति पर ही नहीं रुक जायेगा, बल्कि उस भावात्मक शक्ति एवं प्रभुत्व की ओर अग्रसर

होगा जिसमें फिर तितिक्षा की ज़रूरत ही नहीं रहेगी, क्योंकि तब आत्मा अपने अन्दर विराट् शक्ति को सुस्थिर, प्रबल और साहसिक रूप में धारण कर लेगी और एकत्व एवं आनन्द में स्थित होकर वहीं से अपनी सब प्रतिक्रियाओं को सरलता और प्रसन्नता के साथ निर्धारित करने में समर्थ बन जायेगी। वह तटस्थ उदासीनता की विधि का भी प्रयोग करेगी, पर सब वस्तुओं के प्रति विरक्त उदासीनता को ही इस योग की पराकाष्ठा नहीं मान लेगी, बल्कि जीवन की एक ऐसी उच्चासीन (उत्+आसीन) तटस्थ स्वीकृति की ओर अग्रसर होगी जो समस्त अनुभव को सम आत्मा के महत्तर मूल्यों में रूपान्तरित करने की शक्ति रखती है। वह कुछ काल के लिए नति (न इति) और आत्मोत्सर्ग के मार्ग का भी प्रयोग करेगी, पर भगवान् के प्रति अपनी वैयक्तिक सत्ता के पूर्ण समर्पण के द्वारा उस सर्वसम्राट् आनन्द को प्राप्त कर लेगी जिसमें नति की आवश्यकता ही नहीं है, विराट् सत्ता के साथ एक ऐसा पूर्ण सामञ्जस्य प्राप्त कर लेगी जो कोरा नति का भाव नहीं बल्कि सबका आलिंगन करने वाला एकत्व है, भगवान् के प्रति प्राकृत सत्ता के पूर्ण यन्त्र-भाव और दास्य-भाव को प्राप्त कर लेगी जिसके द्वारा जीवात्मा भी भगवान् को अधिकृत कर लेती है। वह भावात्मक समता की पद्धति का पूर्ण रूप से प्रयोग करेगी, पर जगत् और जीवन को व्यक्तिगत उद्देश्य से अपनाने की ऐसी किसी भी वृत्ति से परे चली जायेगी जिसके परिणामस्वरूप जीवन केवल पूर्ण व्यक्तिगत ज्ञान, शक्ति और आनन्द का ही क्षेत्र बन कर रहे जाये। व्यक्तिगत ज्ञान आदि भी उसे अवश्य प्राप्त होंगे, पर इनके साथ ही वह उस एकत्व को भी प्राप्त करेगी जिसके द्वारा वह दूसरों के अस्तित्व के रूप में केवल अपने लिए नहीं बल्कि उनके लिए भी जीवन धारण कर सके तथा उसने स्वयं जो पूर्णता प्राप्त की है उसी की ओर उनके प्रयत्न में उनकी सहायता करने, उनके लिए एक साधन अथवा एक सम्बद्ध और सहायक शक्ति का काम करने के लिए जीवन यापन कर सके। वह जगत्-सत्ता का त्याग न करती हुई भगवान् के लिए जीवन धारण करेगी, पर वह न तो भूतल के प्रति आसक्त होगी और न ही स्वर्गलोकों या विश्वातीत मुक्ति के प्रति, बल्कि वह भगवान् के साथ उनकी सभी भूमिकाओं में समान रूप से एकीभूत होगी और उनमें, उनके आत्मस्वरूप तथा उनकी अभिव्यक्ति में, समान रूप से निवास करने में समर्थ होगी।

CWSA खण्ड २४, पृ. ७१५-२० **श्रीअरविन्द**

जयन्तीलाल के साथ पत्र-व्यवहार

२१ जून १९१३ में जन्मे, गुजराती शिष्य—जयन्तीलाल पारिख—२८ दिसम्बर १९३८ में २५ साल की उम्र में आश्रम में रहने के लिए आ गये थे। ये एक प्रतिभासम्पन्न चित्रकार थे, जिन्होंने आश्रम में अपने निवास के पहले दशक में माताजी के मार्गदर्शन में सैकड़ों चित्र और रेखांकन बनाये थे। उसके बाद लगभग ५० वर्षों तक उन्होंने आश्रम-प्रेस में काम किया। १९७० के प्रारम्भ में उन्होंने श्रीअरविन्द-जन्म-शताब्दी के ३० खण्डों के प्रकाशन में पूरा सहयोग दिया और १९७३ में 'आश्रम-आर्काइव्ज़ एण्ड रिसर्च लाइब्रेरी' की स्थापना भी की। वे आश्रम में ६० वर्षों तक रहे। उनका देहावसान ८५ वर्ष की उम्र में २६ जनवरी १९९९ को हुआ।

१९३६ से १९७० के दौरान उनका पत्र-व्यवहार माताजी के साथ अंग्रेज़ी में हुआ।

माँ,

मैं आपकी राय के लिए कला की कुछ पुस्तकें भेज रहा हूँ। मैं सेज़ान और वैन गॉग के बारे में आपकी राय जानना चाहता हूँ क्योंकि आधुनिक आलोचकों ने उन्हें बहुत सराहा है, विशेषकर सेज़ान को। अंग्रेज़ी का बहुत अच्छा समालोचक 'रॉजर फ़्राइ' तो उसे दिव्य कलाकार कहता है, यानी वह अपने कुछ कामों में बहुत पूर्ण है।

जो किताबें तुमने भेजी हैं उनमें सेज़ान और वैन गॉग के चित्र बहुत सुन्दर हैं (विशेषकर सेज़ान के)। मैं एक या दो दिनों में उन्हें वापस कर दूँगी—मैं उन्हें ध्यान से देखना चाहती हूँ।

१२ मार्च १९३६

ऐसे लोग आध्यात्मिक जीवन की ओर मुड़ने के योग्य होते हैं, लेकिन उनका रास्ता कभी ख़तरों से ख़ाली नहीं होता।

जिसे तुम ढूँढ़ते हो वह हमेशा तुम्हारे सामने प्रस्तुत रहता है। चैत्य को पूरी तरह विकसित होने दो और वह अपने-आप तुम्हें वहाँ ले जायेगा जिसकी तुम अभीप्सा कर रहे हो।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद।

१५ फ़रवरी १९३९

माँ,

भागवत कृपा का मूल आधार क्या है? क्या दिव्य माँ अपनी कृपा लिये उन लोगों के लिए हमेशा तैयार खड़ी नहीं रहतीं जो उन्हें नीचे आने के लिए पुकारते हैं?

हाँ।

क्या यह सच नहीं है कि भगवान् को ढूँढ़ने वाले अधिकतर जिज्ञासु दिव्य कृपा को नीचे नहीं बुला सकते, यद्यपि वे उसे ग्रहण कर सकते हैं, अगर किसी गुरु या अवतार ने एक बार उसे अपने अन्दर उतार लिया हो?

हाँ।

क्या हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भागवत कृपा पार्थिव चेतना में सुस्थिर हो जाने पर ही सर्वश्रेष्ठ रूप से काम करती है? उसे स्थायी रूप से स्थापित करना ही क्या आपके उद्यम का उद्देश्य है?

हाँ।

कृपया मुझे पूरा सिद्धान्त समझाइये।

'भागवत कृपा' को शब्दों और मानसिक सूत्रों द्वारा नहीं समझाया जा सकता।

आशीर्वाद।　　७ अप्रैल १९३९

अगर तुम चित्र बनाने के लिए सच्ची प्रेरणा का अनुभव नहीं करते तो मैं यह आवश्यक नहीं समझती कि तुम चित्रकारी करो।

आशीर्वाद।　　अप्रैल १९३९

माँ,

पिछले कुछ दिनों से मैं यह अनुभव कर रहा हूँ कि मुझे किसी काम में एकाग्र होना चाहिये। मैं चित्रकारी करना और रेखाचित्र बनाना चाहता हूँ इसलिए मैंने हर रोज़ इस काम के लिए कुछ समय निकालने का निश्चय किया है। बाक़ी का समय अध्ययन को समर्पित करने का इरादा है। आप मुझे जो भी काम देंगी उसे करने के लिए मैं हमेशा तैयार रहूँगा।

तुमने जो चित्र बना कर भेजा है वह बहुत सुन्दर है। यह बहुत अच्छा है कि तुमने रेखांकन और चित्रकारी करना फिर से शुरू कर दिया। मुझे जब कभी किसी काम के लिए तुम्हारी ज़रूरत होगी मैं तुमसे कहूँगी।

आशीर्वाद।

१२ मई १९३९

तुम 'लेक' जा सकते हो। मुझे तुम्हारे रेखांकन बहुत अच्छे लगे, कुछ तो अत्यधिक सुन्दर हैं।

अगर मैं भूल जाऊँ तो आज दोपहर को मुझे जेब-ख़र्च के बारे में याद दिलाना।

आशीर्वाद।

१ जून १९३९

जयन्ती,

कला के नज़दीक पहुँचने का तुम्हारा रास्ता सही है और अगर तुम अपनी मनोवृत्ति और प्रयास में पूर्ण सच्चाई बनाये रखोगे तो तुम निश्चित रूप से सफल होओगे।

पूर्वी कला की सराहना में तुम कुछ हद तक सही हो, लेकिन वह अधूरी है। बहरहाल, इस विषय को हम अभी यहीं छोड़ दें क्योंकि अभी यह सब समझाने के लिए मेरे पास समय नहीं है। रही बात लिओनार्दो द विंची, माइकेल एंजेलो और रफ़ायल की तो मैं उन्हें एक ही स्तर पर नहीं बिठा सकती। पहले दो अन्तिम से कहीं अधिक महान् हैं। वे दोनों सृजनात्मक शक्ति के जगत् से जुड़े हैं, लिओनार्दो अधिक सूक्ष्म रूप में और उसकी कृतियों में है अचञ्चल, गभीर दृष्टि और शुद्धि, जब कि माइकेल एंजेलो में अधिक शक्ति और बल है, विशेषकर उसकी मूर्ति-कलाओं में, जो अद्वितीय रूप से भव्य हैं। रफ़ायल की कृतियाँ अधिक मानसिक और सतही हैं।

आशीर्वाद।

३० जून १९३९

पिछली रात, जब मैं सोने जा रहा था तो हृदय से ऊपर का मेरे शरीर का हिस्सा किसी ऊर्जा से भरा हुआ था। मैंने बिना कुछ किये सिर्फ़ अवलोकन किया। यह बस कुछ सेकेंड रहा। ऐसा मेरे साथ दो-तीन बार हुआ है और तब यह अनुभव कुछ मिनटों तक चला था। मैं जानना चाहूँगा कि यह क्या है। क्या यह कुण्डलिनी शक्ति का अनुभव था? इस तरह के दबाव के समय हमारा सबसे अच्छा मनोभाव क्या होना चाहिये?

सबसे अच्छी मनोवृत्ति है, शान्त और अचञ्चल बने रहना और अनुभूति को अपना रास्ता तय करने देना, **उसके बारे में सोचे बिना** बस उसका अवलोकन करना।

आशीर्वाद।

४ जुलाई १९३९

'स' ने मुझसे कहा कि आपने ध्यान-कक्ष सजाने की अनुमति दे दी है। मेरा विचार

सिर्फ़ उस कमरे को सजाना था जिसमें आप प्रणाम के लिए बैठा करती थीं, लेकिन मैंने सुना कि आप पूरा कक्ष और सीढ़ियों तक का पूरा रास्ता करवाना चाहती हैं। यह बहुत बड़ी योजना है। परन्तु 'क' यह काम करना चाहता है और अगर 'स' से पूछा जाये तो वह भी इसमें जुड़ना चाहेगा।

मैं बस आपसे यह कहना चाहूँगा कि काम को पूरी सामञ्जस्यता और शान्ति से करने के लिए केवल एक ही व्यक्ति को सारी व्यवस्था करनी चाहिये, अन्य सभी को उसी के अनुसार चलना चाहिये। मैं जानना चाहूँगा कि आपके मन में इस सारी चीज़ के लिए क्या कोई विषय है और यह भी कि काम को किस तरह किया जाये।

मैं इससे सहमत हूँ कि सिर्फ़ एक ही व्यक्ति को पूरा नक़्शा बनाना चाहिये, दूसरे बस उसके कार्यान्वयन में मदद दे सकते हैं।

मेरे पास कोई विषय या योजना नहीं है। मेरी सिर्फ़ यही इच्छा है कि रंग और योजना की दृष्टि से सजावट **शान्त** होनी चाहिये।

कुछ ख़ाके और योजनाएँ बना कर मुझे भेजो।

आशीर्वाद।

३१ जुलाई १९३९

माँ,

ध्यान के लिए अभी मैं जितना समय दे रहा हूँ उससे ज़्यादा देना क्या मेरे लिए ठीक रहेगा? सुबह और शाम मिला कर मैं क़रीब दो घण्टे ध्यान में बिताता हूँ। मैं अब तक ध्यान करने में पूरी तरह सफल नहीं हुआ हूँ। मेरा भौतिक मन मुझे बहुत बाधा देता है। यह देखना कितना दुःखदायी है कि मन तो पागल मशीन की तरह काम कर रहा है और हृदय पत्थर की न्याईं सो रहा है। माँ, वर दीजिये कि मैं हमेशा अपने हृदय में आपकी उपस्थिति का अनुभव करूँ।

ध्यान का समय बढ़ाने से इतनी ज़्यादा मदद नहीं मिलती जब तक कि ध्यान करने की प्रेरणा अन्दर से स्वाभाविक रूप से न उठे—उसे मन के किसी अस्थिर निश्चय से नहीं उठना चाहिये।

मेरी सहायता, प्रेम और आशीर्वाद हमेशा तुम्हारे साथ हैं।

१७ अक्तूबर १९३९

माँ,

मैंने अपने रिश्तेदारों के लिए जो मकान लिया है वह किसी क्षयरोगी का है। मकान के लिए पैसे दे देने के बाद मुझे इसके बारे में पता चला। परन्तु बाद में

हमने पूरे मकान को धोया और कुछ कमरों में गन्धक जलाया। बहरहाल, यह विचार मुझे तंग नहीं करता कि यहाँ क्षयरोगी रह चुका है क्योंकि क़रीब छह महीने पहले वह वहाँ से निकल गया था। लोकिन चूँकि कुछ लोगों को इसके बारे में पता चल गया और बीमारी के सुझाव वहाँ फेंके जा चुके हैं अतः, वहाँ रहने वालों की रक्षा के लिए मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ।

चूँकि पूरे मकान को अच्छी तरह से साफ़ और रोगाणुमुक्त कर दिया गया है इसलिए बिलकुल कोई ख़तरा नहीं है। लोगों को डरने की ज़रूरत नहीं है।

मेरे आशीर्वाद।

१९ फ़रवरी १९४०

माँ,

मैं सजावट के काम में समय देना चाहता हूँ, लेकिन इससे पहले मैं सारी चीज़ को अच्छी तरह समझना चाहता हूँ। क्या आप मुझे बता सकती हैं कि इस विषय पर कैसे ध्यान किया जाये? देवदूत कौन हैं? विश्व में उनका कार्य क्या है? हम उनके सम्पर्क में कैसे आ सकते हैं? क्या ऐसी किताबें हैं जो फ़रिश्तों के उद्गम के बारे में बता सकें?

तुम्हारे प्रश्नों का संक्षेप में उत्तर देना असम्भव है।

मुझे ऐसी किसी किताब के बारे में पता नहीं जो इस विषय के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें बता सके।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद।

२ जून १९४०

जयन्ती,

मेरे ख़याल से तुम्हारा केवल चित्रकारी पर ही एकाग्र होना अधिक अच्छा होगा क्योंकि तुम पहले से ही इस दिशा में कुछ अच्छी प्रगति कर चुके हो।

दूसरों के साथ खाना खाते समय का वातावरण अगर तुम्हें पसन्द नहीं है तो मेरी समझ में नहीं आता कि तुम्हें ऐसा क्यों करना चाहिये।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

१३ सितम्बर १९४०

माँ,

मेरे माता-पिता मुझसे कई बार जेब-ख़र्च के लिए कुछ रुपये रखने के लिए कहते हैं, लेकिन मैं इनकार करता रहा हूँ क्योंकि मैं उन्हें यह अनुभव नहीं कराना चाहता कि मैं यहाँ किसी चीज़ के अभाव में कष्ट पा रहा हूँ। क्या आप सोचती हैं कि कुछ फुटकर ख़र्च के लिए अपने पास कुछ रुपये रखना मेरे लिए वाञ्छनीय रहेगा?

तुम जेब-ख़र्च के लिए कुछ रुपये रख सकते हो।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद।

२५ सितम्बर १९४०

माँ,

ऐसा लगता है कि डॉ. 'अ' ने आश्रम के चित्रकारों को जिंजी के क़िले में ले जाने की इच्छा प्रकट की है। मैं आपको बतलाना चाहता हूँ कि मैं जाने के लिए उत्सुक नहीं हूँ, मेरे अन्दर इसकी कोई कामना ही नहीं है। मैं हमेशा वही करना चाहता हूँ जो आपको पसन्द हो, इसलिए कृपया मैं आपकी राय जानना चाहता हूँ। मेरी इच्छा है कि आप अपनी राय बिना संकोच और हिचकिचाहट के प्रकट करें। मेरे लिए अपनी किसी कामना को सन्तुष्ट करने की अपेक्षा आपकी इच्छा को पूरा करना और आपका कहा मानना कहीं अधिक आनन्द की बात होगी।

तुम्हारा न जाना ज़्यादा अच्छा है; इस तरह की सैर आध्यात्मिक जीवन के लिए ज़्यादा हितकर नहीं होती।

मेरे प्रेम और आशीर्वादों के साथ।

२४ दिसम्बर १९४०

माँ,

कई बार मैं गम्भीरता से इसके बारे में सोचता हूँ कि मेरी सत्ता क्या चाहती है। मैं भला उस सच्ची सत्ता का अनुभव क्यों नहीं करता जिसके अन्दर सत्ता और सम्भवन का आनन्द होता है? मैं किसी भी सर्जनात्मक कार्य में सच्ची रुचि का अनुभव क्यों नहीं करता? कभी-कभी मैं हृदय की ऐसी ललक का अनुभव करता हूँ कि किसी ऐसी चीज़ को पकड़ लूँ जो सचमुच मेरी सत्ता को सन्तुष्ट कर सके, लेकिन यह ललक ज़्यादा देर तक नहीं टिकती। आपके विचार से मेरी सच्ची सत्ता को क्या चाहिये?

परम प्रभु।

मैं ऐसा भी अनुभव करता हूँ कि आप मुझसे पूरी तरह से सन्तुष्ट नहीं हैं।

ऐसी कोई बात नहीं है। हर एक की अपनी मुश्किलें होती हैं और मैं प्रत्येक को उसकी मुश्किलों में से बाहर निकालने में उसकी मदद करने के लिए यहाँ हूँ।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद।

२५ फ़रवरी १९४२

माँ,

शायद मेरे पत्र का उत्तर देने के लिए आपको समय नहीं मिला। आज आपकी दृष्टि में ऐसा कुछ था जिसकी मैं थाह नहीं ले पाया; उसमें डाँट का-सा भाव था। अगर ऐसा है तो मेरी समझ में नहीं आ रहा कि इसके पीछे क्या कारण हो सकता है।

डाँटने वाली कोई बात नहीं है। मुझे जो सबसे महत्त्वपूर्ण उत्तर लगा उसे मैंने 'न' के द्वारा भेजा और मैं तुम्हारी स्वीकृति की आशा कर रही थी—उसी कारण वह दृष्टि हो।

मैं यह भी जोड़ दूँ कि सभी मानव सम्बन्धों में हमेशा इस प्रकार के प्राणिक आकर्षणों और आवेगों का आवरण रहता है, जिसके नीचे छिपी रह सकती है वह चैत्य क्रिया जिसके बारे में व्यक्ति हमेशा बहुत सचेतन नहीं होता।

आशीर्वाद। ११ जनवरी १९४४

माँ,

पिछले तीन दिनों से मैं जब प्रणाम के लिए आता हूँ तो आपकी आँखों का भाव नहीं पढ़ पाता। मुझे लगता है कि आप मुझसे नाख़ुश हैं। शायद यह मेरी भूल हो, लेकिन अगर ऐसा कुछ है तो कृपया मुझे बतलायें।

मैं तुम्हारे प्रति अपनी मनोवृत्ति के किसी बदलाव के बारे में अभिज्ञ नहीं हूँ और न ही बदलाव का कोई कारण ही देखती हूँ। मैं बस इतना ही कह सकती हूँ कि जब तुम आये तो मैं 'स' के बारे में सोच रही थी और सोच रही थी कि तुम्हें इस मामले के बारे में कितनी जानकारी है? रही बात तुमसे नाख़ुश होने की, तो इसका कहीं कोई लक्षण नहीं दीखता और मैं निश्चित रूप से कह सकती हूँ कि **मैं नाख़ुश नहीं हूँ**।

मेरे प्रेम और आशीर्वादों के साथ।

५ सितम्बर १९४५

माँ,

मेरे पिताजी चाहते हैं कि कुछ दिनों के लिए मैं उनसे मिल कर आ जाऊँ। वे अपंग हैं, शय्याधीन हैं। उनके दोनों पैर काठ-जैसे हो रहे हैं और धीरे-धीरे हाथ भी वैसे ही होते जा रहे हैं। मुझे लग रहा है कि शायद अब वे कुछ महीनों के ही मेहमान हैं। अपनी माँ के समय भी मुझे उनकी आसन्न मृत्यु का ज़बरदस्त आभास हो गया था। मैं अपने पिता के प्रति बहुत कृतज्ञ हूँ। वे मेरे लिए आदर्श पिता साबित हुए। उन्होंने मुझे जीवन में अच्छे-से-अच्छा दिया—बदले में कुछ भी माँगे बिना।

जब मैं आपके पास यहाँ आया तो मैंने सोचा था कि माता-पिता के देहान्त के पहले मैं एक बार उनसे मिलने जरूर जाऊँगा—बस उनको सन्तुष्ट करने के लिए। न मैं जाने के लिए लालायित हूँ न व्यग्र, और नहीं जाने पर कोई मुझसे प्रश्न भी न करेगा, लेकिन उपर्युक्त विचार बार-बार मुझे धकेल रहा है। मैं आपकी इच्छा का पालन करने में बहुत प्रसन्न होऊँगा।

तुम अपने पिता को देखने जा सकते हो—लेकिन मैं चाहूँगी कि तुम विद्यालय का सत्र समाप्त होने के बाद जाओ, यानी दूसरी दिसम्बर के बाद और विद्यालय खुलने से पहले, यानी पहली जनवरी से पहले वापस आ जाओ—जिससे पढ़ाई की अवहेलना न हो। १९४६

मेरी मधुर माँ,

मैं अनुभव करता हूँ कि मैंने आपको नाख़ुश किया। उसका कोई भी कारण क्यों न हो, लेकिन मैं बहुत क्षमाप्रार्थी हूँ। मुझे इसके बारे में बहुत बुरा लग रहा है। आपके प्रति अपने बढ़ते स्नेह के बारे में तो कहने की आवश्यकता नहीं है।

मेरे प्यारे बालक,

दुःखी न होओ और चिन्ता न करो—**मैं ज़रा भी नाख़ुश नहीं हूँ**। जो हलकी-फुलकी बातचीत प्रतीत होती है, दूसरे शायद उससे कुछ क्षुब्ध हुए हों, लेकिन मैं तुम्हें इसका ज़िम्मेवार बिलकुल नहीं ठहराती। आश्रम में उन बहुत-सी चीज़ों के बारे में लोगों की सतही रूप में और बिना सोचे-समझे बोलने की आदत है जो लोगों की सामान्य समझ के बाहर होती हैं। सफलता के साथ ऐसे प्रभाव का प्रतिरोध करने के लिए बहुत अधिक साहस और सहिष्णुता की आवश्यकता होती है। बहरहाल, मुझे आशा है कि यह बल, साहस और सहिष्णुता सभी सद्भावनावाले लोगों में विकसित होगी। इस बीच मेरे प्रेम और आशीर्वाद सबके साथ हैं।

निश्चित रहो कि मैं तुम्हारे अन्दर के बढ़ते प्रेम और बढ़ती भक्ति से पूरी तरह अभिज्ञ हूँ और उन्हें उनकी आशा के अनुरूप पूरा-पूरा प्रत्युत्तर मिलेगा।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद सहित। २२ सितम्बर १९४७

माँ,

मैं ऐसे स्थल पर पहुँच गया हूँ जहाँ लगता है कि मैं कुछ नहीं समझ पा रहा। जहाँ तक शब्दों का सवाल है उन्हें तो मैं भली-भाँति समझ पाता हूँ, लेकिन मेरे अन्दर कमी है 'वास्तविकता' के भाव की, एक परम शक्तिशाली 'सत्ता' और दिग्दर्शन के भाव की। किसी भी तरह से यह सुखद स्थिति बिलकुल नहीं है।

तुमने यह सब मुझसे कल रात दस और ग्यारह के बीच कहा था और चूँकि तुम विक्षुब्ध-से थे इसलिए मैंने तुमसे कहा, "सबसे पहले **तुम्हें अचञ्चल होना चाहिये**।" सारी चीज़ बहुत स्पष्ट थी और मैं तुम्हारी विचार-शक्ति की सराहना करती हूँ—लेकिन **अचञ्चल** और **शान्त** रहने की आवश्यकता पर ज़ोर देती हूँ। **यह अनिवार्य है**।

प्रेम और आशीर्वादों के साथ।

२१ जून १९६२

माँ,

'क्ष' का कहना है कि वह किसी ऐसे को नहीं जानता जो प्रदर्शनी का काम कर सके। वह सभी प्रदर्शनकर्ताओं के पास यह सूचना भिजवाना चाहता है कि प्रदर्शनी रद्द हो गयी।

मुझे इसका बहुत खेद है।

परिस्थितियों की अपेक्षा यह **परम इच्छा** की **हार** है और इससे आश्रम की अपकीर्ति होती है।

आशीर्वाद।

१४ फ़रवरी १९६३

माँ,

वर दीजिये कि दिव्य माँ मुझे आवश्यक शक्ति दें ताकि मेरी निम्नलिखित प्रार्थना प्रभावकारी हो सके।

श्रीअरविन्द और श्रीमाँ का पुत्र होने के नाते, मेरी अधिकाधिक रुचि सत्य में है। वर दे कि मेरी प्रकृति के अन्दर छिपा हुआ गर्व का पहाड़ किसी भी भाँति इस परम सत्य—भव्य सूर्य—की क्रियाओं को विकृत न करे। मुझे तुच्छता से ऊपर उठा।

आंशिक दृष्टि समग्र के दर्शन को छिपा न दे, और एक पग का ब्योरा 'लक्ष्य' की एकाग्रता में बाधक न बने।

१४ मई १९६३

माँ,

जगत् जैसा है हमें उन्हीं परिस्थितियों में काम करना होगा। फिर भला हम प्राप्त परिस्थितियों का उपयोग कर, उनमें बल एकत्र कर, भागवत परम इच्छा को उसकी शुद्धि में अभिव्यक्त करने का प्रयास क्यों न करें?

लेकिन धरती पर जीने का अर्थ ही है कि हम "प्राप्त परिस्थितियों का उपयोग कर रहे हैं", अन्यथा जीना असम्भव हो जाता।

आशीर्वाद।

१८ मार्च १९६५

माँ,

ये रहे कलकत्ते से आये कुछ चित्रों के प्रूफ़। ये बहुत अच्छे नहीं हैं। मैं कुछ संशोधन की माँग कर रहा हूँ। कुछ और चित्र कलकत्ते भेजने बाक़ी हैं। क्या मैं 'प' से उन्हें ले जाने के लिए कह सकता हूँ?

ये प्रूफ़ **अच्छे नहीं हैं**। तुम उनसे और क्यों करवाना चाहते हो? वे लोग तो सिर्फ़ काम ख़राब कर रहे हैं और इसमें समय और पैसे की बहुत बरबादी हो रही है। प्रायः ये सभी चित्र अव्यवहार्य हैं और इन्हें दोबारा बनाना होगा।

उन्हें और अधिक काम देने के तुम्हारे विचार से मैं सहमत नहीं हो सकती।

आशीर्वाद।

१२ जनवरी १९६६

कई दिनों से मैं यह अनुभव कर रहा हूँ कि मुझे अपनी बाहरी गतिविधियों को कम करके अपने-आपको किसी ऐसे शान्त काम में सीमित कर लेना चाहिये जिसमें इतनी अधिक भाग-दौड़ न करनी पड़े।

मैं आन्तरिक संकट से गुज़र रहा हूँ। मेरा जीवन लक्ष्यहीन बनता जा रहा है। एक दुराग्रही सपना बार-बार मुझे अपनी अयोग्यता का संकेत दे रहा है। यह बहुत आवश्यक हो गया है कि मैं आन्तरिक स्थिरता और धैर्य प्राप्त करूँ। अन्धकार और जड़ निष्क्रियता को कम होना चाहिये।

अगर माँ अनुमति दें तो मैं मुद्रणालय के काम से मुक्त होना चाहूँगा। बहरहाल, मैं वही करूँगा जैसा माँ कहेंगी। कृपया मेरा मार्ग-दर्शन करें।

अगर तुम मुद्रणालय का काम छोड़ दोगे तो काम बरबाद हो जायेगा! जैसे ही मेरे पास थोड़ा-सा भी ख़ाली समय होगा मैं सवेरे तुम्हें बुला लूँगी और हम इस विषय पर बातचीत कर लेंगे।

जैसे-जैसे मैं बढ़ती हूँ वैसे-वैसे मैं अधिकाधिक यह जानती हूँ कि काम के द्वारा ही श्रीअरविन्द का सर्वांगीण योग **सर्वोत्तम रूप से किया जाता है**।

प्रेम और आशीर्वाद।

९ अक्तूबर १९६६

माँ,

मेरा मन बहुत विक्षुब्ध है। मैं नहीं जानता कि मैं कहाँ खड़ा हूँ। हमने जो काम लिया है वह बहुत बड़ा है, हम कई मामलों में वचनबद्ध हैं। मुझे जो करना है वह मेरे लिए स्पष्ट नहीं है, न आन्तरिक रूप से और न बाहरी परिस्थितियों में। रोज़-रोज़ निश्चय बदले जाते हैं, नये-नये प्रश्न उभरते हैं, अहंकार को अस्वीकार्य परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है।

मैं माँ से प्रार्थना करता हूँ कि मुझे तब तक मुद्रणालय के कार्य से मुक्त रखें जब तक मुझे कोई स्पष्ट मार्गदर्शन या अपने काम के बारे में माँ के निश्चित निर्देशन न मिलें।

यह मेरा व्यक्तिगत संकट-काल है। लोगों के साथ मेरा कोई झगड़ा या उनसे कोई शिकायत नहीं है। मैं अपना मुँह बन्द रख कर प्रतीक्षा कर रहा हूँ और मैं प्रकाश के उस सन्देश को पढ़ना चाहता हूँ जो मेरे सम्मुख प्रकट होगा। मैं माँ के प्रकाश के लिए प्रार्थना करता हूँ।

कितना अच्छा होता अगर तुम इससे प्रभावित न होते और अपना काम जारी रखते। अब जब कि कितना काम पड़ा है और सभी के सहयोग की नितान्त आवश्यकता है।

अगर तुम मुझसे मिलना चाहो तो मैं तुमसे मिल कर बहुत प्रसन्न होऊँगी, लेकिन तुम जानते ही हो कि मैं कभी अकेली नहीं होती और बात करना मुश्किल हो जाता है।

बहरहाल, निश्चिन्त रहो कि मेरा प्रेम और आशीर्वाद हमेशा तुम्हारे साथ हैं।

७ अगस्त १९६९

माँ,

मैं एक व्यक्तिगत समस्या का सामना कर रहा हूँ और माँ के पथ-प्रदर्शन के लिए प्रार्थना करता हूँ। अभी तक मुझे आन्तरिक पथ-प्रदर्शन का सहारा नहीं मिला है। मेरे दिन अच्छी तरह नहीं बीत रहे हैं। मैं शताब्दी-कार्य में जुटा हुआ हूँ यद्यपि मुझे ऐसा लगता है कि न तो मैं वहाँ वाञ्छित हूँ और न ही कोई मुझ पर विश्वास

करता है, लेकिन मैं किसी भी सामान्य विचार या भावना से प्रेरित होकर आगे नहीं बढ़ना चाहता। कभी-कभी मेरी एकदम से एकान्त में रहने की इच्छा होती है। मैं प्रार्थना करता हूँ कि मेरे अन्दर वह निश्चिति जागे कि मैं वही कर रहा हूँ जो मेरे गुरु चाहते हैं। वर दीजिये कि मेरी व्यक्तिगत पसन्द, नापसन्द और अहंकार मेरी क्रिया और वचन की शुद्धि पर दाग न लगायें। 'माँ' है मेरा मन्त्र और मैं उन्हीं की शरण में दुबका हूँ।

शताब्दी के कार्य के लिए न केवल तुम्हारी आवश्यकता है बल्कि तुम **अनिवार्य** हो, तुम्हारे बिना यह काम सुचारु रूप से न होगा। अत: मैं तुमसे धीरज धरने और रास्ते में आने वाली कठिनाइयों को बहुत महत्त्व न देने के लिए कह रही हूँ।

प्रेम और आशीर्वाद।

३ मई १९७०

मुझे बहुत खेद है कि मेरी ऐसी छवि बन गयी है कि मैं वहाँ से पैसे खींच रहा हूँ जहाँ उसे जाना चाहिये—यानी, माँ के पास जाने वाले पैसों को मैं अपने काम के लिए खींच रहा हूँ। मेरी मनोवृत्ति तो यही रही है कि सारी सम्पत्ति माताजी की है और हमें उनके निर्देशन के अनुसार उसका उपयोग करना चाहिये। जहाँ कहीं सम्भव हो मैं यही करता हूँ और मुझे दु:ख है कि इससे मेरी उलटी ही छवि बन रही है। मैं अपने सिर से भार उतारने के लिए आपको यह लिख रहा हूँ।

मुझे मालूम नहीं, यह अफ़वाह किसने उड़ायी, लेकिन मैं तुम्हें विश्वास दिला सकती हूँ कि मैं जानती हूँ कि यह सच नहीं है। अत:, चिन्ता न करो और शान्ति को अपने हृदय में प्रतिष्ठित होने दो।

आशीर्वादों के साथ।

बिना तारीख़ का पत्र
—श्रीमाँ

उषा से पहले का अन्धकार

तुम्हारी कठिनाई तीव्रता की पराकाष्ठा पर इसलिए पहुँच गयी है क्योंकि योग निश्चेतना की उस तली से जा टकराया है जो व्यक्ति में और साथ ही जगत् में भी उस 'परम' और 'भागवत कार्य' का प्रतिरोध करने का मूलभूत आधार है जो भागवत कार्य हमें विजय की ओर ले जाने के लिए उद्यत है। ये सभी कठिनाइयाँ आश्रम के साथ-साथ बाहरी जगत् में भी सामान्य हैं। शंका, निरुत्साह, श्रद्धा में कमी या ह्रास, आदर्श के लिए प्राणिक उत्साह की कमी, असमञ्जस तथा भविष्य के बारे में निराशा आदि इस कठिनाई के सामान्य लक्षण हैं। बाहरी जगत् में इससे भी बुरे लक्षण दिखायी देते हैं जैसे—कटुता की वृद्धि, किसी भी चीज़ के बारे में विश्वास करने की अस्वीकृति, सच्चाई की कमी, बहुत अधिक भ्रष्टाचार, उच्चतर चीज़ों को लात मार कर, भोजन, रुपये-पैसों, सुख-सुविधाओं और भोग-विलास में रमे रहना और संसार में बुरी-से-बुरी चीज़ों की प्रत्याशा रखना। यह सब चाहे जितना तीव्र क्यों न हो फिर भी उन लोगों के लिए अस्थायी है जो वैश्व ऊर्जा और आत्मा की क्रिया के बारे में कुछ भी जानते हैं। इस बुरी-से-बुरी चीज़ के घटने के आसार तो मैंने पहले ही देख लिये थे। मुझे मालूम है कि अन्धकार के पीछे किस चीज़ की तैयारी हो रही है और मैं उषा के पहले चिह्नों को देख और अनुभव कर सकता हूँ। जो भगवान् को पाना चाहते हैं उन्हें अपनी खोज में स्थिर और दृढ़ाग्रही होना होगा, कुछ समय के बाद अँधियारा धूमिल होकर विलीन हो जायेगा और 'प्रकाश' का आविर्भाव होगा।

९ अप्रैल १९४७

CWSA खण्ड ३१, पृ. ६१९

श्रीअरविन्द

१९७१ के दो वार्तालाप

९ जून १९७१

विरोधी शक्तियों की रेलपेल है। पागल रेलपेल। लेकिन 'उत्तर' आने लगा है—यह एक ज़रा-सा आरम्भ है। हर एक के अन्दर मानों एक तूफ़ान था—वह पूरी तरह गया नहीं है। वह सब, जिसके बारे में यह माना जाता था कि इसे जीत लिया गया है और धकेल दिया गया है, वह बड़ी तेज़ी से वापस आता है—और सबसे अधिक अप्रत्याशित लोगों में—और सब प्रकार के रूपों में, विशेषकर स्वभाव में, ओह! सन्देह, विद्रोह और ऐसी सब चीज़ें...।

(मौन)

मुझसे समस्त भारत के लिए एक सन्देश माँगा गया था। मैंने यह दिया है *(माताजी शिष्य को काग़ज़ देती हैं)* :

परम प्रभो, 'शाश्वत सत्य'
हम केवल 'तेरी' ही आज्ञा का पालन करें
और 'सत्य' के अनुसार जियें।

'मिथ्यात्व' का भयंकर आक्रमण है। ऐसा लगता है मानों पूरी दुनिया, हर आदमी, झूठ बोल रहा है, एकदम अप्रत्याशित लोग भी—हर जगह, हर जगह, हर जगह। और मेरे लिए यह एक जीती-जागती वस्तु थी *(माँ देखने की मुद्रा करती हैं)*। ओह! भयंकर। तुम कल्पना नहीं कर सकते...। ज़रा दायीं ओर को मरोड़, ज़रा बायीं ओर को मरोड़, ज़रा-सा मरोड़...कोई चीज़, कोई भी चीज़, कुछ भी सीधा नहीं है। तब शरीर अपने-आपसे पूछता है: "तुम्हारा मिथ्यात्व कहाँ है?" उसने अपने-आपको देखा। और उसने यह पुरानी कहानी देखी: "जब कभी कोई ज़रूरी बात हो, केवल तभी प्रभु को बुलाना चाहिये! *(माँ हँसती हैं)* तुम सारे समय प्रभु के साथ रहने की आशा नहीं कर सकते!" तब उसे एक अच्छी-सी थपकी मिली!... वह आक्रमणशील न थी, उसमें विनय का भाव था—उसे एक अच्छा चपत लगा।

वह अप्रिय वस्तुओं का भयंकर क्रोधोन्माद था—अप्रिय से बढ़ कर; सचमुच, सचमुच दुष्ट, अशुभ और विनाशकारी। वह क्रोधोन्माद था जब तक कि समझ नहीं आ गयी। तब सारे शरीर में यह प्रतीति आयी, सभी कोषाणुओं में, सब जगह, सारे समय—बात यहाँ तक पहुँच गयी कि मैं खाते समय निगल तक न सकती थी—यह तब तक रहा जब तक हर चीज़ में, हर

एक चीज़ में यह समझ नहीं आ गयी : मेरा अस्तित्व केवल भगवान् के द्वारा है, मैं भगवान् के द्वारा रहे बिना जी ही नहीं सकती... और मैं भगवान् हुए बिना स्वयं मैं भी नहीं बन सकती। इसके बाद चीज़ें ठीक होने लगीं। अब शरीर ने समझ लिया है।

(लम्बा मौन)

तुम्हें कुछ नहीं पूछना? कुछ नहीं कहना?

मुझे लगता है कि नियति ख़राब है।

नहीं, यह सच नहीं है। यह 'मिथ्यात्व' का भाग है, यह वही 'मिथ्यात्व' है। कोई बुरी नियति नहीं है, यह एक झाँसा है! यह वास्तविक 'मिथ्यात्व' है...। यह बिलकुल सच नहीं है, बिलकुल नहीं, बिलकुल नहीं।

तो लो, यह बात तुम्हें एक उदाहरण दिखाती है : बस ऐसा ही है—सब जगह ऐसा ही है *(माँ मानों चंगुल में पकड़ने की मुद्रा करती हैं)*। मुझे तो ऐसा लगता है कि मैं ऐसे राक्षस देखती हूँ जो पंजे फैलाये सबको पकड़ने की कोशिश करते हैं! ओह! तुम्हें देखना चाहिये और फिर हँसना चाहिये—एक असभ्य बच्चे की तरह जीभ बिरानी चाहिये।

(लम्बा मौन)

बहरहाल, आप पर चारों तरफ़ से हमला हो रहा है।

ओह!... हाँ, भीषण हमला है यह—लेकिन कोई बात नहीं।... व्यक्ति को ऊपर उठना चाहिये, और फिर *(ऊपर से देखने की मुद्रा)*।

मैंने तुमसे जो कहा है वह 'सत्य' है, वही *एकमात्र* उपचार है।

केवल भगवान् के लिए जीना।

केवल भगवान् द्वारा जीना।

केवल भगवान् की सेवा के लिए जीना।

केवल... भगवान् बनते हुए जीना।

तो यह रहा।

यहाँ "तुम" नहीं है, "प्रतीक्षा करनी चाहिये" नहीं है, "वह अपने समय पर आयेगा" नहीं है... ये सब चीज़ें, जो बहुत तर्कबुद्धि-संगत हैं, अब अस्तित्व नहीं रखतीं—यह 'वह' है *(माँ मुट्ठी नीचे करती हैं)*, एक तलवार की धार की तरह। यह 'वह' है। सभी चीज़ों के बावजूद

'वह' : भगवान्—केवल भगवान्। समस्त दुर्भाव और विद्रोह का यह सब कूड़ा... और वह सब *(माँ अँगुली सीधी उठाती हैं)*, बुहार कर फेंक दिया जाना चाहिये। और जो यह कहता है कि वह मर जायेगा या 'उस' के द्वारा मार दिया जायेगा, वह है अहंकार—'महाशय अहंकार' जो यह चाहते हैं कि उन्हें सच्ची सत्ता मान लिया जाये।

लेकिन शरीर ने सीख लिया है कि अहं के बिना भी वह जो है वह है, क्योंकि वह जो कुछ है भगवान् की 'इच्छा' से है, न कि अहं से—हम भागवत 'इच्छा' के कारण जीते हैं, अहं के कारण नहीं। अहं साधन था—सदियों तक साधन रहा—अब वह बेकार है, उसका समय लद गया। अब... *(माँ मुट्ठी नीचे लाती हैं)* चेतना, वह भगवान् है; शक्ति, वह भगवान् है; क्रिया, वह भगवान् है; व्यक्तित्व, वह भी भगवान् है।

और शरीर ने अच्छी तरह समझ लिया है, अनुभव कर लिया है, उपलब्ध कर लिया है, समझ लिया है कि अलग व्यक्ति होने का भाव एकदम बेकार है, एकदम बेकार; उसके जीवन के लिए यह ज़रा भी अनिवार्य नहीं है, यह बिलकुल व्यर्थ है। वह एक और ही शक्ति के द्वारा, एक और ही संकल्प के द्वारा जीता है, जो व्यक्तिगत नहीं है : वह है भागवत 'संकल्प'। और उसे जो होना चाहिये, वह उसी दिन बनेगा जब वह अनुभव करेगा कि उसमें और भगवान् में कोई फ़र्क नहीं है। बस यही।

बाक़ी सब मिथ्यात्व है—मिथ्यात्व, मिथ्यात्व और मिथ्यात्व, जिसे मिट जाना चाहिये। केवल *एक* ही सद्वस्तु है, केवल एक ही जीवन है, केवल एक ही चेतना है *(माँ अपनी मुट्ठी नीचे लाती हैं)* : भगवान्।

१७ जुलाई १९७१

मैंने समझ लिया है कि अगर 'परम चेतना' में एक क्षण के लिए भी वह चेतना हो जो मनुष्यों में है तो जगत् विघटित हो जायेगा...। हमारी सहज प्रतिक्रिया, वस्तुओं के बारे में हमारी सहज प्रतिक्रिया यह होती है कि हमें जो बुरा लगता है, जो मिथ्या है उसे नष्टकर दिया जाये। सहज प्रतिक्रियाएँ। रूपान्तरित करना नहीं, नष्ट करना—समझे, दोनों के बीच बहुत बड़ी खाई है।

जी।

यह बिलकुल सहज है, ख़तम कर देने का—मिथ्यात्व को ख़तम कर देने का भाव बिलकुल सहज है। लेकिन अगर परम प्रभु के अन्दर क्षण-भर के लिए भी इस प्रकार की गति हो तो दुनिया का कहीं पता भी न चलेगा!... और मेरा ख़याल है कि यह बात शरीर समझ गया है। मेरा ख़याल है कि वह समझ गया है, यह असाधारण था...। हम क्या हैं! मनुष्य क्या हैं! वे मानते हैं, भगवान् *(माँ शेखी मारने का दिखावा करती हैं)*, वे मानते हैं... ओह!... अगर उनमें

ज़रा भी समझ होती या अगर वे पूर्णता के लिए ज़रा भी प्रयास करते, ओह! *(वही संकेत)* वे मानते हैं, वे मानते हैं कि वे असाधारण हैं! *(माँ दोनों हाथों में सिर पकड़ कर हँसती हैं।)*

श्रीअरविन्द ने कहीं पर कहा है कि जब तुम भागवत चेतना के सम्पर्क में होते हो तो तुम्हें अचानक यह पता लगता है कि... यह संसार अपनी मूर्खता में किस हद तक हास्यास्पद है। मनुष्यों की मूर्खता...। लेकिन पशुओं में—मेरा पशुओं के साथ सम्पर्क रहा है—पशुओं में भी यह चीज़ शुरू हो गयी है। मिथ्याभिमान, मिथ्याभिमान, मिथ्याभिमान, मिथ्याभिमान...।

(मौन)

जानते हो, धोखेबाज़ी और धोखेबाज़ी के प्रयासों को सब जगह सद्भावना माना जाता है। और जो धोखा नहीं देना चाहते, परन्तु अपने-आपको ही धोखा देते हैं, वे पहले से ही अपवादिक प्राणी हैं।

ये खोजें नहीं हैं, ऐसी चीज़ें हैं जिन्हें मैंने देखा है; लेकिन वे कभी-कदास, अपवादिक रूप में इसके लिए या उसके लिए दिखायी देती हैं—लेकिन मुझे सारे संसार का, समस्त पृथ्वी का, सारी मानवजाति के प्रयास का, सभी मनुष्यों का, सब चीज़ों का अन्तर्दर्शन प्राप्त था...। हम एक धोखे में रहते हैं... यह भयानक है!... और फिर व्यक्ति जितना औरों को धोखा देना चाहता है, उससे बढ़ कर अपने-आपको धोखा देता है।

(मौन)

कहने का मतलब यह है कि हम *किसी चीज़* को भी वह जैसी है वैसी नहीं देख पाते।

(लम्बा मौन)

केवल एक सुरक्षा है : भगवान् से चिपके रहो, इस तरह *(दोनों मुट्ठियाँ बाँधने का संकेत)*।

चिपके रहना, लेकिन उससे नहीं जिसे तुम भगवान् सोचते हो, उससे भी नहीं जिसे तुम भगवान् अनुभव करते हो...। एक अभीप्सा... यथासम्भव अधिक-से-अधिक सच्ची, निष्कपट अभीप्सा। और उससे चिपके रहो।

(मौन)

जानते हो, एक बात मैं तुम्हें पहले ही बता चुकी हूँ कि अब शरीर—शरीर की चेतना—पहले से ही जान लेता है कि क्या होने वाला है। वह पहले से जान जाता है कि लोग उससे क्या

कहने वाले हैं। लेकिन वह यह नहीं जानता... (कैसे कहा जाये?) वह ठीक उस रूप में नहीं जानता जिसमें भौतिक रूप में चीज़ घटित होने वाली है। वह... सदा... यह जानता है कि चीज़ किस *भाव* से की जायेगी...। यह बड़ी अजीब बात है। मैं बिना हिले-डुले केवल भगवान् की होकर रहने की कोशिश में लगी हूँ, और चीज़ें होती जाती हैं—वे इस प्रकार होती हैं *(ऐसा संकेत मानों सामने के परदे पर सब कुछ हो रहा है)* : चीज़ें, पदार्थ, घटनाएँ आती हैं, लोग बोलते हैं...। शुरू में मैं मानती थी कि यह मेरी भौतिक चेतना ही थी जो अपने-आपको चुप न रख सकती थी। फिर मैंने जाना कि यह बाहर से आकर भौतिक स्तर पर भौतिक रूप ले रही है। अब अगर मैं इन चीज़ों को मानसिक रूप दूँ तो मैं भविष्य में होने वाली चीज़ों को देख सकूँगी, कह सकूँगी कि क्या होने वाला है...। केवल साधारण मनुष्य में मन इन बातों का उपयोग भविष्यवाणियाँ करने के लिए करता है—लेकिन, सौभाग्यवश, मन है ही नहीं, वह शान्त है, वह अनुपस्थित है। सिर्फ़ जब मुझे बातें बतलायी जाती हैं या मेरे सामने कही जाती हैं, तो इस शरीर को कोई आश्चर्य नहीं होता, ऐसा लगता है कि वह जानता है। अजीब बात है...। एक प्रकार की सार्वभौमिकता।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११, पृ. २७५-८०

अतिमानस तथा रूपान्तर

मन और प्राण में पूर्ण अतिमानसिक परिवर्तन होने से पहले अतिमानस के लिए शरीर धारण करना बिलकुल असम्भव है। 'क्ष' तथा अन्यों को हमेशा किसी प्रकार के दुर्बोध चमत्कार की प्रत्याशा रहती है—वे यह नहीं समझते कि यह गहन-गभीर क्रमविकास है, तीव्र लेकिन सृष्टि के नियम का पालन करते हुए, जिसे घटित होना ही है। चमत्कार केवल एक क्षण का ही आश्चर्य हो सकता है, केवल दिव्य नियम के अनुसार किया गया परिवर्तन ही टिक सकता है।

*

यदि अतिमानस मन तथा प्राण में स्थिर रह सकता है तो उसे भौतिक में भी स्थिर रहना चाहिये। अगर वह भौतिक में स्थिर नहीं रह सकता, तो वह मन तथा प्राण में भी स्थिर नहीं रह सकता; तब वह अतिमानस नहीं, कुछ और ही होगा।

*

इसे (अतिमानस को) भौतिक में भी उतारे बिना मन तथा प्राण में नहीं उतारा जा सकता। तुम उसके प्रभाव को अनुभव कर सकते हो या इससे कुछ प्राप्त कर सकते हो, लेकिन नीचे उतारने का मतलब उससे कहीं अधिक है।

CWSA खण्ड २८, पृ. ३०२

अतिमानस सामञ्जस्यपूर्ण पूर्णता है—वह प्रकाश और अज्ञान का संयोजन नहीं है। अगर भौतिक मन अतिमानसिकता को नहीं प्राप्त कर लेता तो मन में अज्ञान की कुछ मात्रा तो रहेगी, लेकिन तब वह अतिमानस न होकर कुछ और होगा। प्राण के साथ भी यही बात है। तब मन में अज्ञान का घालमेल तो होगा, लेकिन साथ ही, मन में पृथक् रूप से आंशिक अतिमानसभावापन्न अधिमानस होगा।

*

जब तक भौतिक तैयार न हो जाये, अतिमानस दूसरे स्तरों पर विजय नहीं प्राप्त कर सकता, बस अपना प्रभाव डाल सकता है।
CWSA खण्ड २८, पृ. ३०२-३०३

यह बिलकुल सच है कि सम्पूर्ण सत्ता का समर्पण और परिणामस्वरूप उसका रूपान्तरण ही योग का लक्ष्य है—शरीर को इससे बाहर नहीं रखा गया है, लेकिन साथ ही प्रयास का यह भाव सबसे अधिक कठिन तथा सन्दिग्ध है—शेष, यद्यपि सरल नहीं है, फिर भी सम्पन्न करने के लिए अपेक्षाकृत कम कठिन है। व्यक्ति को शरीर पर चेतना के आन्तरिक नियन्त्रण से शुरुआत करनी चाहिये, एक ऐसी शक्ति हो जो शरीर द्वारा चेतना की इच्छा तथा जो शक्ति उसमें सञ्चारित हो रही है उसकी आज्ञा का अधिकाधिक पालन करवाये। अन्त में जैसे-जैसे उच्च से उच्चतर शक्ति अवतरित होती है और शरीर की नमनीयता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे रूपान्तर सम्भव होता जाता है।

*

शरीर को रूपान्तरित करने के बारे में सोचना बिलकुल बेकार है जब तक कि दूसरी चीज़ें, जिन्हें करना कहीं अधिक आसान है, सम्पन्न नहीं की गयी हों—हालाँकि कोई भी चीज़ आसान नहीं है। बाह्यतम परिवर्तन हो, उसके पहले आन्तरिक परिवर्तन का होना बहुत ज़रूरी है। तब फिर इस तरह की एकाग्रता का क्या फ़ायदा—जब तक कि व्यक्ति यह सोचे कि अन्य सब कुछ पूर्ण है, जो कि सचमुच एक आश्चर्यकारी दावा होगा। शरीर के साथ सबसे पहले करना यह चाहिये कि उसे 'शक्ति' की ओर उद्घाटित कर दो ताकि तुम बीमारी तथा थकान का सामना करने के लिए बल तथा शक्ति पा लो—जब ये चीज़ें आयें तो तुम्हारे अन्दर उनके प्रति प्रतिक्रिया करने, उन्हें निकाल बाहर फेंकने की शक्ति होनी चाहिये और तुम्हें शरीर में शक्ति का एक निरन्तर प्रवाह बनाये रखना चाहिये। अगर यह कर लिया जाये तो बाक़ी शारीरिक बदलाव अपने उचित समय पर हो जायेंगे और इसके लिए व्यक्ति प्रतीक्षारत रह सकता है।
CWSA खण्ड २८, पृ. ३०५

*

(शरीर के साथ व्यवहार करते हुए रूपान्तर के हर स्तर पर रुकना) सचमुच सम्भव नहीं होता। शारीर चेतना होती ही है और उसे अनदेखा नहीं किया जा सकता, अतः व्यक्ति यह

सोच कर कि शरीर के बारे में बाद में विचार करेगा, उसे एकदम से अछूता छोड़ कर न तो उच्चतर भागों को रूपान्तरित कर सकता है न ही अगले चरण पर जाने से पहले प्रत्येक स्तर को उसके सभी भागों में पूर्ण ही बना सकता है। मैंने वह तरीक़ा अपनाने की कोशिश की थी, लेकिन वह कभी सफल नहीं हुआ। मन तथा प्राण में अधिमानसिकभावापन्नता की प्रधानता का होना पहला चरण है, उदाहरण के लिए, अधिमानसिकभावापन्नता पाने के समय अगर शारीरिक चेतना अपनी सभी निम्न गतियों को बनाये रखे, यानी वे अधिमानसिक न बन जायें, तब तो प्रयास व्यर्थ होगा, क्योंकि तब तक कुछ नहीं हो सकता जब तक उन्हें अधिमानस के स्तर तक ऊपर नहीं खींचा जाता और तब तक कोई अधिमानसिक पूर्णता प्राप्त ही नहीं हो सकती और तब हमेशा शारीरिक चेतना दोषों और सीमाओं को लाती रहेगी। अधिमानस को पूर्ण बनाने के लिए व्यक्ति को अतिमानसिक शक्ति को पुकारना होगा और केवल तभी जब अधिमानस आंशिक रूप से अतिमानसिक हो जाता है कि शरीर अधिकाधिक अधिमानसिक बनता जाता है। इस प्रक्रिया से कतरा कर निकल जाने का मैं कोई रास्ता नहीं जानता, हालाँकि यही प्रक्रिया रास्ते को इतना लम्बा बना देती है।

CWSA खण्ड २८, पृ. ३०९

चेतना का परिवर्तन आवश्यक है और इसके बिना कोई भौतिक सिद्धि उपलब्ध नहीं हो सकती। लेकिन अगर शरीर जैसा है वैसा ही बना रहे, यानी मृत्यु, व्याधि-रोग, क्षय, दु:ख-दर्द, अचेतना तथा अज्ञान के अन्य सभी परिणामों का दास ही बना रहे तो अतिमानसिक परिवर्तन अपनी सम्पूर्णता में कभी सम्भव ही न होगा। अगर इन्हें बने ही रहना है तो अतिमानस के अवतरण की कोई आवश्यकता ही नहीं है—क्योंकि चेतना का वह परिवर्तन जो भगवान् के साथ मानसिक-अतिमानस तादात्म्य ले आये उसके लिए तो अधिमानस या उच्चतर मानस ही पर्याप्त है। अतिमानस का अवतरण तो मन, प्राण तथा शरीर में 'सत्य' की गतिशील तथा ऊर्जस्वी क्रिया के लिए आवश्यक है। इसका अन्तिम परिणाम यह होगा कि शरीर की अचेतनता विलीन हो जायेगी, वह क्षय और रोग-शोक के अधीन न रहेगा। इसका यह अर्थ होगा कि वह उन सामान्य प्रक्रियाओं के अधीन न रहेगा जिन्हें मृत्यु ले आती है। अगर शरीर का परिवर्तन करना होगा तो वह शरीर धारण करने वाले की मरज़ी से होगा। यह होगा (३००० साल जीने की बाध्यता नहीं, क्योंकि यह तो एक बन्धन हो जायेगा) भौतिक अमरता का सारतत्त्व। फिर भी, अगर कोई १००० या उससे अधिक वर्ष जीना चाहेगा तो अगर उसने पूर्ण सिद्धि पा ली हो तो यह करना उसके लिए असम्भव न होगा।

CWSA खण्ड २८, पृ. ३१० **श्रीअरविन्द**

स्त्री और पुरुष

सबसे पहले हम यह मान कर ही चलें कि अभिमान और अविवेक हमेशा हास्यास्पद चीज़ें होती हैं। सिर्फ़ मूर्ख और अज्ञानी ही अक्खड़ और घमण्डी होते हैं। जैसे ही मनुष्य इतना प्रबुद्ध हो जाये कि वह, चाहे कितना भी कम क्यों न हो, विश्व के सर्वव्यापक रहस्य के साथ नाता जोड़ सके, वह निश्चित रूप से नम्र हो जाता है।

स्त्री अपनी सहिष्णुता के कारण ही पुरुष की अपेक्षा ज़्यादा सरलता के साथ सृष्टिमें कार्यरत परमा शक्ति का सहज बोध प्राप्त कर लेती है और प्रायः, स्वभावतः अधिक नम्र होती है।

लेकिन नम्रता के इस तथ्य को आवश्यकता कहना ग़लत है। पुरुष को स्त्री की जितनी आवश्यकता होती है, स्त्री को पुरुष की उससे ज़्यादा आवश्यकता नहीं होती; बल्कि ज़्यादा ठीक यह है कि स्त्री और पुरुष दोनों को समान रूप से एक-दूसरे की आवश्यकता होती है।

शुद्ध भौतिक क्षेत्र में भी स्त्रियाँ भौतिक रूप से पुरुषों पर जितनी निर्भर हैं उतने ही पुरुष स्त्री पर निर्भर होते हैं। अगर नम्रता इस निर्भरता का परिणाम होती तो जहाँ पुरुष नारी पर निर्भर हैं वहाँ पुरुषों को नम्र और स्त्रियों को अधिकारशील होना चाहिये था।

और फिर, यह कहना कि स्त्रियों को विनम्र होना चाहिये क्योंकि इसी तरह से वे पुरुषों को ख़ुश करती हैं, भी ग़लत है। इससे तो यही समझा जायेगा कि स्त्री को धरती पर इसीलिए बनाया गया है ताकि वह पुरुषों को ख़ुश करे—और यह वाहियात है।

सारा विश्व भागवत शक्ति को प्रकट करने के लिए रचा गया है। और मनुष्यों का, स्त्रियों या पुरुषों का, यह विशेष उद्देश्य है कि वे उस 'अनन्त भागवत तत्त्व' के बारे में सचेतन हों और उसे अभिव्यक्त करें। उनका लक्ष्य यही है, कोई दूसरा नहीं। अगर वे, स्त्री और पुरुष, इस बात को जानें और अधिकाधिक याद रख सकें तो वे प्राथमिकता या अधिकार के तुच्छ झगड़ों के बारे में सोचना बन्द कर देंगे और सेवा करने की अपेक्षा, सेवा करवाने में अधिक प्रतिष्ठा न देखेंगे, क्योंकि तब सब अपने-आपको समान रूप से भगवान् का सेवक मानेंगे और हमेशा पहले से ज़्यादा और पहले से अच्छी तरह सेवा करने में ही अपनी प्रतिष्ठा मानेंगे।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड २, पृ. १६७-६८

श्रीअरविन्द के उत्तर

(९२)

जब हरिन् अपने लिए घर ढूँढ़ रहा था, वह मुझसे मिला। मैंने उसे पकड़ा और यह पूछने का साहस किया कि क्या वह सचमुच यहाँ से चला जा रहा है जैसी कि अफ़वाह फैली हुई है। उसने एकदम सीधा नहीं में जवाब दिया, हालाँकि उसने रमण महर्षि के यहाँ जाकर उनके दर्शन करने की सम्भावना ज़रूर दर्शायी। लेकिन वैसे मुझे लगा कि जिस तरह वह पहले एकाग्रचित्त रहा करता था, वैसा बिलकुल न था, वह तो अस्थिर ही लग रहा था। मैंने तुलसी से सुना कि उसके विद्रोह के कारण कुछ लोगों को उससे किसी भी तरह का सम्बन्ध रखने की मनाही कर दी गयी है। क्या ये निर्देश सबके लिए हैं? इन दिनों वह मुझसे प्रायः मिला करता है और स्वाभाविक है कि मैं उससे कतराता नहीं हूँ।

नहीं—इस तरह की कोई मनाही नहीं है।

मैंने ज़रूर उस पुलिसवाले के वातावरण से कोई चीज़ पकड़ ली होगी जो मुझसे बहुत ज़्यादा समय तक हाथ मिलाता रहा। (वैसे, मेरे गाँव का एक धनाढ्य बम्बई के गवर्नर के साथ हाथ मिलाने के बाद पागल हो गया था, यह बात १८९० के आसपास की है।) मुझे ऐसा लगता है मानों इस जीवन में मुझे कोई रस नहीं रहा, और दूसरा जीवन मुझे बहुत बढ़िया लग रहा है—आधे दिन मैं अपनी पत्नी और वहाँ के जीवन के ही बारे में सोच रहा था। कम-से-कम हाथ मिलाने से मेरे अन्दर की कई चीज़ें झड़ गयीं, लेकिन उससे जो चीज़ें मेरे अन्दर आ गयी हों उन्हें झाड़ कर बाहर निकाल देना मुश्किल होगा।

मुश्किल क्यों? पुलिसवाले को अपने वातावरण से निकाल बाहर करना मुश्किल नहीं होना चाहिये—ऐसी चीज़ों को तुरन्त बाहर निकल जाने की 'नोटिस' दे दो।

क्या रामकृष्ण या चैतन्य में शान्ति के अवतरण-जैसी कोई चीज़ नहीं हुई? ऐसा लगता है कि उन्हें तीव्र उपलब्धियाँ तथा अन्तर्दर्शन तो हुआ करते थे और उनकी गहरी समाधि लगा करती थी, लेकिन हमने कहीं यह नहीं पढ़ा कि उनके अन्दर शान्ति का अवतरण हुआ हो। शायद उनकी समाधि के समय या तीव्र भावुक क्षणों

में स्वयं उपलब्धियाँ तथा अन्तर्दर्शन ही उनके अन्दर शान्ति और प्रकाश ले आये हों जिनके बारे में विशेष रूप से कोई चर्चा न हुई हो। लेकिन इन सबको सहारा देने और स्थिर करने के लिए अचञ्चलता तथा शान्ति का कोई आधार तो अवश्य होना ही चाहिये।

ऐसा होता है कि लोगों के अन्दर अवतरण हो जाये जब कि उन्हें इसका पता तक न चले कि यह अवतरण है, क्योंकि वे केवल उसके परिणाम अनुभव करते हैं। सामान्य योग आध्यात्मिक मन के परे नहीं जाते—लोगों को मस्तक के शीर्ष स्थल पर ब्रह्म के साथ एक होने की अनुभूति होती है, लेकिन मस्तक के परे की चेतना के बारे में वे अभिज्ञ नहीं होते। समान रूप से, सामान्य योग में व्यक्ति को जाग्रत् आन्तरिक चेतना (कुण्डलिनी) के ब्रह्मरन्ध्र तक उठने की अनुभूति होती है जहाँ प्रकृति ब्रह्म से जुड़ जाती है, लेकिन वे अवतरण का अनुभव नहीं करते। कुछ को ये चीज़ें प्राप्त हुई हों, लेकिन मुझे मालूम नहीं कि सर्वांगीण साधना में उन्हें इसकी प्रकृति, सिद्धान्त या स्थान समझ में आया हो। कम-से-कम जब तक मैंने अपनी स्वयं की अनुभूति द्वारा इसे प्राप्त नहीं कर लिया उसके पहले दूसरों से इसके बारे में कुछ सुना हो। इसका कारण यह है कि पुराने योगी जब आध्यात्मिक मन से ऊपर समाधि में चले जाते थे तो इसका अर्थ यह होता था कि वे इन उच्चतर स्तरों पर सचेतन होने की कोशिश नहीं करते थे—उनका लक्ष्य पराचेतना को जाग्रत् चेतना में लाना नहीं था—जो कि मेरे योग का है—बल्कि उनका ध्येय बस पराचेतना में चले जाना था।

२६ जुलाई १९३५

ताज़दार ने मुझसे पूछा कि क्या मेरे पास रुपहला चूर्ण है। मैंने कहा कि ख़तम हो गया, लेकिन हम नरभेराम से कह सकते हैं कि वह बाज़ार से ख़रीद लाये—यह महँगा भी नहीं है, प्रति पैकेट तीन आने का पड़ेगा। मैंने उससे कहा कि मैं नरभेराम से कह दूँगा, लेकिन बाद में मैंने सोचा कि अगर मैं एक बार उससे बातचीत करूँगा तो बाद में वह प्रायः मुझसे बातें करने की कोशिश करेगा और यह मेरे लिए असुविधाजनक हो जायेगा और मैं यह ख़तरा मोल लेना नहीं चाहता हूँ। इसलिए मैंने उससे कुछ भी न कहने का फ़ैसला कर लिया, अगर ज़रूरत पड़ी तो मैं या तो 'प्रॉस्पेरिटी' (साधकों को हर महीने ज़रूरतमन्द चीज़ें देने का विभाग) से ले लूँगा या फिर द्युमान् भी नरभेराम की तरह आसानी से बाज़ार से ला सकता है। मैंने यह बात ताज़दार से कही तो उसने कहा कि वह ललिता से ले लेगी।

बहुत बढ़िया। नरभेराम से बहुत अधिक बातचीत करना सम्भवतः निश्चित रूप से "पुलिस का प्रभाव" लाने में सहायता देगा।

२८ जुलाई १९३५

कुछ दिनों से, टखने के सामने के जोड़ में, ठीक वहाँ जहाँ टीबियल धमनी और नस गुज़रती है, बीच-बीच में एकदम से तेज़ दर्द उठता है, यह क़रीब आधे मिनट तक रह कर चला जाता है। पिछले महीने भी कुछ दिनों तक यह आता-जाता रहा। यह गठिया की तरह लगता है और वैसे कोई तकलीफ़ नहीं देता, सिवाय इसके कि जब वह उठता है मुझे बैठ जाना पड़ता है जब तक कि वह गुज़र न जाये। कभी-कभी मैं इसकी परवाह नहीं करता और चलता-फिरता रहता हूँ।

मेरे ख़याल से यह गठिया-रोग या नसों का दर्द होगा। ये चीज़ें यहाँ बहुतों को होती हैं।

अब मैंने अपने कमरे में खाट रखने की ठीक जगह पा ली। मैंने उसे दक्षिण की तरफ़ की खिड़की के पास सरका दिया ताकि रात को जब-जब मैं उठूँ, श्रीमाँ के कमरे का हलका प्रकाश देख पाऊँ। यह मेरी उस मेज़ के भी पास है जिस पर मैं लिफ़ाफ़े रखता हूँ, ताकि रात को जब कभी मेरा हाथ वहाँ जाये, मुझे यह याद दिला दे कि वहाँ कुछ है। 'स्विच' पायताने की तरफ़ है, तो बिस्तर से नीचे गिरने का भय भी नहीं है, जैसा कि एक बार हो चुका है। आश्चर्य है कि मुझे यह जगह पहले कैसे नहीं सूझी—कितना समय बरबाद किया मैंने चीज़ों को इधर-उधर लगाने-हटाने में, हालाँकि यह भी सच है कि—देर आयद दुरुस्त आयद।

एकदम ठीक बात है। लेकिन यह तो सामान्य अनुभव है कि कोई सरल और सही चीज़ करने में भौतिक मन में कभी-कभी कितने समय बाद विचार कौंधता है।
३० जुलाई १९३५

जब कोई कुछ पढ़ता और बाद में उस पर सोच-विचार की जुगाली करता है, तो मन में वही चीज़ घूमती रहती है—पढ़े हुए शब्द और वाक्य ऐसे आते-जाते हैं मानों व्यक्ति बस भौतिक मन में ही रहता हो। जब लोग सामान्य बाहरी चीज़ों या व्यापार इत्यादि के बारे में बातचीत करते हैं तो क्या सामान्यतः वे भौतिक मन में ही नहीं रहते? इस हिसाब से तो यह नहीं लगता कि मनुष्य की सामान्य चेतना हज़ारों वर्ष पहले की चेतना से आज ज़्यादा विकसित है—हाँ, भौतिक मन तथा वह जितनी सूचनाओं को अपने कन्धे पर लिये-लिये फिरता है उसमें तो कहीं ज़्यादा आगे बढ़ी हुई है!

निस्सन्देह, कुछ सन्तों तथा बड़ी मात्रा में बुद्धिजीवियों के अलावा प्रायः अधिकतम मनुष्य अपने भौतिक मन तथा प्राण में ही रहते हैं। यही कारण है कि, जैसी कि अब खोज हो चुकी है,

सूचनाओं तथा भौतिक साधनों को इकट्ठा करने के अलावा, मानवता ने पिछले तीन हज़ार सालों में बहुत कम प्रगति की है। पहले की अपेक्षा शायद कुछ कम क्रूरता और नृशंसता हो, अभिजात-वर्ग के मानस में अधिक नमनीयता हो, रूपों तथा आकारों में बदलाव का अधिक अभ्यास हो, बस इतना ही।

> *सवेरे अपने शरीर तथा साँस में मुझे अजीब-सी गरमाहट महसूस हुई और मुझे ऐसा लगा मानों मेरी सत्ता के सभी भाग माँ के साथ एक हो गये हों। लेकिन उचित शुद्धि के बिना यह कैसे सम्भव हो सकता है भला? यह मन के द्वारा प्रक्षेपित कल्पना हो सकती है, जो स्वाभाविक रूप से सब कुछ—सत् तक को—जानती है। प्रणाम के बाद यह अनुभूति टूट गयी, कुछ और न बचा, बच रहा तो एक सेक्स-संवेदन जिसने कुछ समय तक शोर मचाया फिर चुप हो गया।*

वह कल्पना क्योंकर हो? जब उच्चतर चेतना स्पर्श करती है तो जब तक वह रहती है, एक तात्त्विक शुद्धि होती है जिसमें सत्ता के सभी भाग साझीदार हो सकते हैं। या, अगर बाहरी सत्ता उसमें सक्रिय रूप से भाग न भी ले, वह शान्त हो जाती है ताकि जब आन्तरिक सत्ता किसी अनुभूति के सत्य को उपलब्ध कर रही हो तो कोई भी चीज़ उसमें हस्तक्षेप न करे। यह अवस्था बहुत समय तक नहीं बनी रहती क्योंकि यह प्रारम्भिक स्पर्श होता है, पूर्ण या स्थायी अवतरण नहीं; लेकिन जब वह होता है तब वास्तविक होता है। सेक्स-संवेदन निस्सन्देह बाहरी सत्ता की चीज़ है, स्वभाव की विकृति या मिथ्या निरूपण है—यही है मार्ग का रोड़ा जो अनुभूति को बार-बार आने से रोकता है और उसे सामान्य नहीं बनने देता। यह सामान्यतया इसलिए होता है कि किसी भी अनुभूति के बाद इस तरह का विरोधी अपना सिक्का जमाना चाहता है।

> *मेरे साथ बात करने वाला कोई न हो, ऐसा कोई न हो जिसके साथ मैं बातचीत करना चाहूँ, और बातें करने के लिए कुछ न हो—ये तीन शर्तें पूरी कर ली जायें तो इस संसार से किसी भी तरह का नाता न रख कर किसी सूक्ष्म जगत् में चले जाना प्रायः सम्भव हो सकता—अगर आपने इस जगत् को बदलने तथा किसी और वस्तु को यहाँ उतारने का कार्यक्रम न बनाया होता। लेकिन क्या जगत् बदलना चाहता है और आपका माल ख़रीदना चाहता है? तब तो उसे—वह जो है, उसके पास जो कुछ है और वह जो कुछ भी करता है—उस सबको त्याग कर, भारी मूल्य चुकाना पड़ेगा।*

जगत् के पास जो नहीं है उसे वह चाहता भी है और नहीं भी चाहता। वह सब जो अतिमानस दे सकता है उसे जगत् का आन्तरिक मन पाना चाहेगा, लेकिन बाहरी मन, उसका प्राण तथा

भौतिक उसका मूल्य नहीं चुकाना चाहते। लेकिन बहरहाल, मैं एक झटके में सारे जगत् को बदलने की कोशिश नहीं कर रहा, बल्कि केन्द्र में कुछ ऐसी चीज़ उतारने की चेष्टा में हूँ जो अभी तक उसके पास नहीं है—एक नयी चेतना और शक्ति।
३१ जुलाई १९३५

'प्रॉस्पेरिटी' से निकलते हुए मुझे ऐसा महसूस हुआ मानों चारों तरफ़ से मुझ पर मुक्के और घृणा बरस रहे थे, इस हद तक कि मेरी इच्छा हुई कि मैं यहाँ की हर चीज़ के प्रति विद्रोही बन जाऊँ। यह श्रीमाँ की ओर से नहीं था, क्योंकि वे तो सामान्य दिनों की तरह मुस्कुरायीं, शायद ज़्यादा ही। ये तो वहाँ खड़े लोग थे जो मुझसे नफ़रत करते हैं या फिर माँ ने मेरे अन्दर कुछ किया? और अब तो मुझे ऐसा लग रहा है कि आप भी मुझसे विकर्षित हो रहे हैं! मैं दर्शन-दिवस पर आना नहीं चाहता क्योंकि आपने मेरे पिछले छह महीनों का लेखा-जोखा किया होगा और मेरे अन्दर की हर एक चीज़ को बदतर पाया होगा—चन्दूलाल और 'ग' के साथ की घटना, मेरे यहाँ से चले जाने का निर्णय, और अन्त में वह पुलिसवाला क़िस्सा जिसमें आश्रम अगर फँस जाता तो बड़ा ख़तरा खड़ा हो सकता था। लेकिन अगर आप मुझसे नफ़रत करते हैं तो आप मुझसे यहाँ से चले जाने को क्यों नहीं कहते, अगर आप सचमुच चाहते हैं कि मैं चला जाऊँ?

क्या तुम नहीं देख सकते कि वह पुराना प्रहार और पुराने सुझाव दोबारा सिर उठा रहे और तुम्हारी बुद्धि को धुँधला रहे हैं? न लोग तुमसे नफ़रत करते हैं न ही कोई घृणावश तुमसे पीछे हटता है। निश्चित रूप से, मैंने ऐसा कभी नहीं किया। मैं तुमसे यहाँ से चले जाने के लिए नहीं कहता क्योंकि मेरी रत्ती-भर भी यह मंशा नहीं है कि तुम यहाँ से चले जाओ। माँ ने तुम्हारे अन्दर कुछ नहीं किया। तुम्हारी चाहे कैसी भी कठिनाइयाँ क्यों न रही हों, तुम्हें हमेशा मेरे द्वारा जितना सम्भव हुआ उतनी भरपूर सहायता तथा सद्भावना और सहारा मिला। उसमें कभी कोई बदलाव नहीं आया, न ही मैंने या श्रीमाँ ने कभी ऐसा कोई भी अवसर दिया हो कि तुम यह कल्पना करने बैठ जाओ कि अब बात एकदम अलग है! अब तो तुम्हें अपने लम्बे अनुभव के बाद यह जान लेना चाहिये कि ये सुझाव कहाँ से आ रहे हैं और इनका क्या अर्थ है। यह तुम्हारे ऊपर एक प्रहार है क्योंकि तुम्हें उच्चतर चेतना की अनुभूतियाँ होनी शुरू हो गयी थीं। तुम्हें यह समझ लेना चाहिये, इन पर न विश्वास करो न ही इन्हें पोसो, बल्कि इन्हें उखाड़ कर दूर फेंक दो।

कितना बुरा दिन था! मैंने जब अपना दिन शुरू किया तो मुझे किसी भी चीज़ में कोई रस न था और मेरे अन्दर मृत्यु के लिए अत्यधिक ललक थी। मुझे लगा

मानों जीवन बहुत लम्बा है—अगर मिनटों की गिनती की जाये तो धरती पर अब तक मैं जितना जीवन जी चुका हूँ उसके हिसाब से तो यह भयंकर रूप से बहुत बड़ी संख्या होगी, और मैंने जीवन की हर विभिन्नता को जिया है। अब मुझे अपना प्राप्य आराम मिलना चाहिये, और शरीर का भला क्या उपयोग है? अगर आन्तरिक चेतना है तो शरीर उसमें कुछ नहीं जोड़ सकता। ज़्यादा-से-ज़्यादा वह सीमाएँ लाकर उसकी स्वतन्त्रता में बाधा पहुँचा सकता है। मैं उन लोगों में नहीं हूँ जो अमरता की परवाह करते हैं—मुझे तो शरीर की अमरता की इच्छा करना बेतुकापन लगता है। रही बात अमरता की चेतना की; वह तो हमेशा से रही है—कोई हिन्दू यह नहीं मानता कि कभी पूर्ण समाप्ति होती है और सभी जानते हैं कि अन्तरात्मा अमर है। मैं सोचता हूँ कि मृत्यु के लिए मैं मृत्यु चाहूँगा।

इसका बस यही मतलब होगा कि दूसरे शरीर में चले जाना और तब तक उन्हीं समान कठिनाइयों के दौर से गुज़रना जब तक कि व्यक्ति को आध्यात्मिक हल न मिल जाये। बिना किसी प्रकार की आध्यात्मिक मुक्ति के शारीरिक जीवन से छुटकारा पाना सम्भव नहीं होता।

यह कैसे सम्भव है कि चन्दूलाल सारे दिन बातें करता रह सकता है, कभी काम के बारे में तो कभी दूसरी चीज़ों के विषय में? क्या कभी उसे कोई सीमा बाँधने की ज़रूरत नहीं होती या फिर क्या उसने शान्ति इत्यादि के अवतरण के सभी स्तरों को पार कर लिया है? निस्सन्देह, चूँकि उसे श्रीमाँ के साथ रोज़ दो घण्टे बातचीत करने का समय मिलता है, वह सारा दिन बातें करने में समर्थ हो सकता है—शायद दो घण्टों में ज़रूर उसे इतना मिल जाता है जो हमें महीनों में भी नहीं मिलता। हम यह नहीं कह सकते कि वह दूसरों की अपेक्षा ज़्यादा सहायता नहीं दे रहा। कभी-कभी सैकड़ों चिट्ठियाँ पाने से कहीं अधिक मूल्यवान् एक शब्द का पाना होता है। और जब मैंने कुछ मिनटों के लिए श्रीमाँ के साथ साक्षात्कार के लिए पूछा तो आपने लिखा कि माँ ने मेरा नाम लिख लिया है—और अब कितनी आसानी से आप उसके बारे में पूरी तरह से भूल गये! आप मुझसे कह सकते थे कि उनके पास समय नहीं है और मैं सन्तुष्ट हो जाता, लेकिन मेरे साथ यह भेदभाव क्यों? मैं यह नहीं कह रहा कि मुझे 'इन्टरव्यू' अभी चाहिये—उसके लिए अब मेरा मोह चला गया। आप कहते हैं कि लोग मुझसे नफ़रत नहीं करते। अच्छा, आपके चन्दूलाल ने पुलिस की घटना के दिन मुझे कैसा घृणास्पद संवेदन दिया था! उसने उस विषय पर कैसी भयंकर चुप्पी साध रखी थी, मानों उसका एकदम से कोई लेना-देना ही न हो। शैलेन के साथ उसने बेकार की बातें कीं और कइयों के साथ हँसी-मज़ाक किया, लेकिन मेरे साथ क्या हुआ यह पूछने का उसका ज़रा भी

झुकाव न था। और, इस सबके बावजूद, ऐसे लोगों को रोज़ दो घण्टों का 'इंटरव्यू' मिलता है!

जैसा कि हमेशा होता है, जब यह 'शक्ति' तुम्हें धर दबोचती है, श्रीमाँ के विरोध में तुम्हारे निराधार कथन फूट पड़ते हैं।

रही तुम्हारे साथ साक्षात्कार की बात, तो यह तो साफ़ था कि तुम माँ से १५ के पहले एक बार मिलना चाहते थे। माँ ने एक दिन निश्चित भी कर लिया था, लेकिन चूँकि तुम्हें ज़ुकाम हो गया था तो मैंने उन्हें सुझाव दिया कि ऐसी हालत में तुम इतना आनन्द नहीं उठा पाओगे। उसके बाद उनके दिन भरे हुए थे, लेकिन वे भूली नहीं थीं, क्योंकि उनकी कॉपी में ६ अगस्त के दिन तुम्हारा नाम लिखा हुआ है।

जहाँ तक चन्दूलाल की बात है—अमृत की तरह चन्दूलाल को भी माँ अकेले साल में केवल एक ही बार कुछ समय के लिए साधना-विषयक बातों के लिए बुलाती हैं। वे दोनों रोज़ाना उनके पास साधना या अपनी वैयक्तिक बातचीत करने नहीं, बल्कि काम के लिए जाते हैं (कभी-कभी फ्रेंच के किसी वाक्य की व्याख्या के लिए भी) और उनके साथ दो या तीन और लोग भी होते हैं—दो घण्टों के लिए नहीं, बल्कि ज़्यादा-से-ज़्यादा घण्टे-भर के लिए, और अगर एक घण्टा भी हुआ तो सारा समय चन्दूलाल नहीं ले लेता बल्कि वहाँ उपस्थित हर एक बारी-बारी से अपने काम की रिपोर्ट माँ को देते और उनसे निर्देश पाते हैं। ज़्यादा उचित तो चन्दूलाल की यह शिकायत होगी कि साधना के बारे में उसे साल में मुश्किल से एक बार कोई शब्द या कोई एक पत्र मिलता है और उसके लिए एक शब्द या एक पत्र व्यापार के बारे में सैकड़ों वार्तालापों से कहीं ज़्यादा मूल्यवान् होगा—और यह कि उसकी अपेक्षा हम नायक (स्वयं पत्र-लेखक) या दूसरों को हज़ारों गुनी ज़्यादा सहायता दे रहे हैं। हमारा सौभाग्य है कि वह शिकायत नहीं करता, न दूसरे ही करते हैं। लेकिन हर एक उसे जो मिलता है उससे नाक-भौं सिकोड़ता है और उसकी माँग करता है जिसके लिए उसे लगता है कि वह चीज़ उसे मना कर दी गयी है लेकिन किसी दूसरे को दे दी गयी है।

२ अगस्त १९३५

लेकिन भला चन्दूलाल क्यों शिकायत करे जब कि उसे पूरे पक्के तौर पर पता है कि उसे घण्टे-भर तक श्रीमाँ का सम्पर्क प्राप्त हो सकता है और वह दो घण्टों या उससे भी अधिक समय तक वहाँ रह सकता है? अगर बाहर से उस पर कुछ भी आ जाये, उसे पता है कि जिस क्षण वह माँ के पास जायेगा उस बाहरी चीज़ से पीछा छुड़ा लेगा, और यही कारण है कि उसे न आपको चिट्ठी लिखने की आवश्यकता है न आपसे पाने की ही। या फिर वह इसलिए शिकायत नहीं करता कि वह श्रीमाँ को मुझसे ज़्यादा अच्छी तरह समझता है। लेकिन वह माँ को बेहतर

तरीक़े से कैसे समझता है? उनके साथ उसके दीर्घकाल के सम्पर्क द्वारा! अगर हम गाँधी का भी उदाहरण लें, केवल वे ही, जो उनके साथ रहे, जिन्होंने उनसे बातचीत की, वे ही उनकी अहिंसा की तीव्रता तथा दूसरी चीज़ों को सबसे अच्छी तरह समझते हैं। बाहरी लोग, भले उन्होंने उनकी चीज़ों को बहुत पढ़ा हो, उन्हें या उनके सिद्धान्तों या उनकी तीव्रता की गहराई को उतना न समझ पायेंगे जितना उनके क़रीबी समझ पायेंगे। क्या कोई माँ को दत्ता से ज़्यादा समझ सकता है जो माँ के साथ कितने बरसों तक रहीं—सिवाय किसी विरले व्यक्ति के, जो सम्भवतः आन्तरिक रूप से विकसित हो? और वह भी उन्हें समग्र रूप में न समझ पाये।

मुझे खेद है कि ये सब मानसिक रचनाएँ हैं। तुम अपने मन में उन बातों की इमारत खड़ी कर रहे हो जिन्हें चन्दूलाल को अनुभव करना चाहिये था। लेकिन सच पूछो तो न चन्दूलाल और न ही किसी दूसरे की कठिनाइयाँ उनके श्रीमाँ के पास आने या एक-दो घण्टे, यहाँ तक कि तीन घण्टे बैठने के बाद भी दूर नहीं होतीं। बहुतेरे लोगों ने ऐसा किया, लेकिन वे वैसे ही वापस गये जैसे उदास, निराश और विद्रोह से भरे आये थे। वे लोग जो माँ के पास जाते हैं, जैसे दत्ता इत्यादि, उन्हें भी तुम्हारे जितने बुरे संकटों का सामना करना पड़ता है या चम्पा, सुभद्रा तथा उन्हीं जैसे लोगों को भी अक्सर तुम्हारे जैसे संकट-काल से गुज़रना पड़ता है। तुम चन्दूलाल की बात कर रहे हो कि वह माँ के आस-पास रह सकता है, तो पुराणी भी रह सकता है; दुर्गादास भी, जब वह यहाँ था। यह सच नहीं है कि जिन्होंने माँ से ज़्यादा बातचीत की है (घरों के बारे में, मरम्मत या नौकर-चाकर इत्यादि के बारे में) वे उन्हें ज़्यादा अच्छी तरह समझते हैं। पहले के दिनों में कुछ लोग आज से कहीं अधिक माँ से मिलते थे और उनसे हर विषय पर बातचीत किया करते थे—लेकिन वे भी उन्हें सचमुच समझ न पाये। मैं दोहराता हूँ कि ये सब मानसिक रचनाएँ और अपने-आप निकाले गये निष्कर्ष हैं जो तथ्यों के साथ कतई मेल नहीं खाते। केवल तभी जब व्यक्ति उनके प्रति आन्तरिक रूप से उद्घाटित होता है कि वह उनके "सम्पर्क" से लाभ उठाता है, भौतिक नहीं बल्कि आध्यात्मिक या आन्तरिक सम्पर्क से, और तब उनके बारे में सोचा हुआ कोई भी विचार अथवा उनसे आया हुआ कोई भी विचार किसी भी ग़लत चीज़ को सही कर सकता है; फिर भौतिक सम्पर्क भी सहायता कर सकता है, लेकिन वह अनिवार्य नहीं है। जहाँ तक माँ को समझने की बात है, आध्यात्मिक चेतना में प्रवेश करके ही व्यक्ति उन्हें समझ सकता है, भले मन से न समझे, कम-से-कम अनुभव तो कर सकता और उचित रूप से इस तथ्य का प्रत्युत्तर दे सकता है जो वे अपनी वर्धनशील एकता के द्वारा प्रस्तुत करती हैं।

आप लिखते हैं, "तुम्हारे ऊपर प्रहार इसलिए हुआ क्योंकि तुम्हें उच्चतर चेतना की अनुभूतियाँ होनी शुरू हो गयी थीं"। लेकिन डेढ़ साल पहले की चिट्ठियों में मैंने

पाया कि मुझे ये अनुभूतियाँ हो रही थीं और तब भी आपने लिखा था कि तुम्हें "अनुभूतियाँ शुरू होने लगी हैं"। इसका तो यह अर्थ निकला कि या तो मेरे अन्दर ये कभी "शुरू" नहीं हुईं या फिर इन "शुरुआतों" का कोई अन्त नहीं है, और शायद इस तरह अनुभूतियों की एक शाश्वत "शुरुआत" ही चलती रहे। बात फिर यहीं आकर रुकती है कि या तो मुझे इस बात पर विश्वास नहीं करना चाहिये कि प्रहार-जैसी कोई चीज़ है या फिर मुझे अपने-आपको साधकों में एकदम निम्नतम समझना चाहिये जिसे हमेशा शुरुआत करनी होगी। पता नहीं कि जब मैं आसानी से यहाँ से चला जा सकता था तब मुझे जाने के लिए क्यों नहीं कहा गया, बजाय इसके कि मैं हमेशा नौसिखिये का नौसिखिया ही बना रहूँ, और हर क़दम पर बाक़ी सब मुझसे अधिक महान् बन जायें। और वह भी तब जब मैं किसी भी दूसरे की अपेक्षा अनुशासन का अधिकाधिक पालन करता हूँ! क्या कोई भी ऐसा है जो कभी अख़बार नहीं पढ़ता? क्या कोई भी ऐसा है जो अपने घरवालों को न कभी चिट्ठी लिखता है न उसके घर से कोई चिट्ठी आती है? क्या कोई भी ऐसा है जिसने आपको मेरे जितने पत्र लिखे हों? क्या कोई भी ऐसा है जिसने पहले डेढ़ साल तक 'प्रॉस्पेरिटी' देखी तक न हो? क्या कोई भी ऐसा है जिसने यहाँ अपने शुरुआती चार साल के वास में एक बार के अलावा कभी कोई जेबख़र्च लिया हो? और कितनी चीज़ें मैं गिनाऊँ? और फिर भी, मेरे भाग में है दु:खों का पहाड़-—बिना किसी परिणाम के!

जब तुम नीचे भोतिक चेतना में उतर आये तो शुरू हो गये तुम्हारे मानसिक अनुभव और तुम्हारे हाथ से वह दूसरा तागा छूट गया और तुमने अपने-आपको छितरा दिया और तुम कामुक-गतियों में लग गये। बाद में (हाल ही में) तुमने आरम्भ में जो प्रगति की थी उसे ज़ोर-शोर से जारी रखने की कोशिश तो की, लेकिन प्रहारों के प्रति झुक जाने की तुम्हारी प्रवृत्ति और अपने-आपको उनके साथ एक करने की आदत की वजह से (श्रीमाँ के विरोध में विचार और संवेदन, यहाँ से चले जाने की कामना, प्राण की निराशा इत्यादि) विरोधी शक्तियाँ अब भी रास्ते में आकर, साधना की किसी भी निरन्तरता को बनाये रखने में बाधा पैदा कर रही हैं। इस बाधा से छुटकारा पाना ही एकमात्र इलाज और साधक के लिए उचित पथ है। इसी वजह से मैंने तुमसे यहाँ से चले जाने के लिए नहीं कहा।

४ अगस्त १९३५

एक बार आपने लिखा था कि "माँ के साथ भौतिक सामीप्य पूर्णता और प्रगति के लिए सतत दबाव की प्रेरणा देता है", और यह कि "अगर उसको (ताज़दार) इसकी अनुमति मिल जाती तो वह कुछ दिनों तक भी यह बरदाश्त नहीं कर पाती"। इसका

यह अर्थ हुआ कि भौतिक सामीप्य महत्त्वपूर्ण है। अगर नहीं, तो व्यक्ति दूर बैठा हुआ भी समान रूप से साधना कर सकता है। या व्यक्ति को प्रणाम के लिए आने की आवश्यकता ही नहीं और वह उनके स्पर्श के बिना रह सकता है, इससे आप अधिकतर कठिनाइयों से बच जायेंगे। अनिवार्यतः इसका तो यही मतलब निकला कि चन्दूलाल, अमृत, चिन्मयी या चम्पकलाल को अधिक सम्पर्क की अनुमति इसलिए मिली है क्योंकि वे उसे सह सकते हैं, उनके काम की बात अलग है।

मैंने जो लिखा उसमें "प्रेरणा" शब्द हो ही नहीं सकता, क्योंकि दबाव की "प्रेरणा" का कोई अर्थ ही नहीं है।[१] मेरा मतलब था कि यह नहीं कि भौतिक सामीप्य महत्त्वपूर्ण है बल्कि यह कि उसे आसानी से सहा नहीं जाता। प्रणाम के समय स्पर्श और भौतिक सामीप्य का समान अर्थ नहीं है। भौतिक सामीप्य से मेरा मतलब था कि माँ के साथ रहना या उनके साथ बहुधा भौतिक सम्पर्क का होना—चन्दूलाल या अमृत का आध या पौन घण्टे या कभी-कदास एक घण्टे तक काम के लिए उनके साथ रहने को यह नाम नहीं दिया जा सकता। न ही यह सच है कि जिन नामों को तुमने गिनाया वे पथ पर दूसरों से ज़्यादा आगे बढ़े हुए हैं। चम्पकलाल अनिलवरण से, जो माँ के पास हफ़्ते में एक दिन ही जाता है, या खिरद (जो प्रणाम या ध्यान के अलावा) माँ के दर्शन विरले ही करता है या लीला, जो माँ के पास साल में सिर्फ़ एक ही बार जाती है—ज़्यादा विकसित नहीं हैं। रही बात सामीप्य की, तो अधिकाधिक लोग तो दबाव के प्रति बन्द हो जाते हैं, अतः, जब उन्हें सामीप्य नहीं मिलता तो बिगड़ जाते हैं। यही है सारी बात का सार।

५ अगस्त १९३५

श्रीअरविन्द

[१] श्रीअरविन्द ने थोपना (imposes) शब्द लिखा था प्रेरणा देना (inspires) नहीं।